जैन श्रमण

(अहिंसादि लोकोत्तर गुणसम्पन्न और
भव्य लोकोपकारमय जीवन की रूपरेखा)

प्रकाशक
चीमनलाल केशवलाल कडिआ
मन्त्री, धी यगमेन्स जैन सोसायटी
८५३, कालुपुरोड,
अहमदाबाद १

मूल्य रु. १ : २५ एक रुपया पचीस नये पैसे

विषयदर्शन

परिचय

भारतीय संस्कृति कितनी पवित्र और विकसित है, उसकी सजीव झाकी महानिष्पाप और परोपकार-परायण जीवन जीनेवाले जैन श्रमणों में होती है। महाअहिंसा और सत्य आदि की दीक्षा ले कर खुले सिर और पैर गॉव गॉंव पाद-विहार करनेवाले वे श्रमण निभूनि जनता को व्यसन-त्याग और अहिंसा-सत्य-नीति इत्यादि का उपदेश देते है। परिणामत जनता दयालु, परोपकारी और सदाचारी बनती है। करोंटों रुपये का खर्च कर के न्यायालय, पुलिस इत्यादि तंत्र चलानेवाली सरकार को भी इस प्रकार जनता में सदाचार को फैलाकर अपराधों को घटाने का जो कार्य कठिन प्रतीत होता है, उसे आर्यभूमि के साधु-संत पुरुष बड़ी सरलता से करते हैं। बडे वेतनवाले अधिकारी और कर्मचारी भी समाज में से चोरी, हिंसा इत्यादि को नष्ट कर के नीति, अहिंसादि का प्रचार कितने गॉवों में कर सकेंगे? उनका प्रभाव भी कितना पडेगा? तब जैन श्रमण गॉंव गॉंव पैदल पहुँचते हैं और अहिंसादि का संदेश राष्ट्र के कोने कोने में पहुँचाते है। और अपने जीवन त्याग और निःस्वार्थता पूर्ण होने से उनका अद्भुत गहरा प्रभाव पडता है। इससे कई लोग नीति आदि सदाचारवाले बनते है, अहिंसक, संयमी और परोपकारी बनते है। उपरांत विद्वान श्रमणों के उपदेश से आध्यात्मिक उन्नतिकारक भव्य कलामय स्थापत्यों का एवं धर्मशालाओंका निर्माण, दान का प्रवाह, सामूहिक तीर्थ-यात्राएँ, प्रासंगिक संकट-प्रस्तों का उद्धार इत्यादि प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। ये पुण्यमूर्ति श्रमण भव्य साहित्य के सर्जन द्वारा भी प्रजाजीवन का सांस्कृतिक स्तर उठाते हैं। ऐसे कई तरह के उपकारों की वे वर्षा करते हैं। जैन श्रमणों की दिनचर्या भव्य त्याग, महान क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि गुणों की

कटी साधनाओं से भरचक होती है। वे स्वकीय जीवन और उपदेश द्वारा जनता को घोर जडवाद में से जाग्रत कर के अध्यात्म की ओर ले जाते हैं।

एसे साधु–महर्षियों का परिचय न होने के कारण इस प्रकार के असत्य आक्षेप किए जाते हैं कि 'साधु देश का भाररूप है,' 'उनसे कोई देश कल्याण नहा होता,' 'ऐसे पवित्र–जीवन मे बचपन से प्रवेश नहीं करना चाहिए, मरकरण नहीं लेना चाहिए,' 'साधु मासाहार करते थे,' इत्यादि इत्यादि। यह बात हमारे देश के लिए खेदजनक है। साधु सस्था को विस्मृत करना–कि जो आज अत्यावश्यक हैं–इसके बदले अनिच्छनीय एव असत् आक्षेप–नियंत्रणादि डालकर उसका ह्रास करने का जो प्रयत्न किया जाता है इससे हमें यह साफ प्रतीत होता है कि एसा प्रयत्न समस्त मानवजाति के लिए शापरूप होगा।

अत जैन श्रमणो का कुछ परिचय देने के लिये इस लघु पुस्तक की योजना की गई है। इसमें श्रमण बनने की पूर्व तैयारी से लेकर श्रमण जीवन की स्व–पर उपकारपूर्ण उच्च साधनाओं तक का क्रमबद्ध विवरण दिया गया है। प्रारंभिक साधु–साध्वीयों को भी सक्षेप में श्रमण जीवन का सम्पूर्णत ख्याल इसमें से मिल जाता है। तथा आदर्श गृहस्थ–जीवन जीने के अभिलाषी को यह पुस्तक भव्य आदर्श देती है। तदुपरांत श्रमण के बारे में आज जो कई तरह के तर्क–वितर्क तथा आक्षेप किए जाते हैं, उनके बारे में यह पुस्तक सुदर, स्पष्ट जानकारी देने के साथ साथ आदरणीय गुरुतत्त्व की समझ देती है। श्रमणों का परिचय पाकर श्रमण या श्रमणोपासक बनें, यही मगल कामना।

चीमनलाल कशलाल कडिआ
अमृतलाल जेशींगभाइ दलाल
मन्त्री, धी यगमॅन्स जैन सोसायटी

: १ :

लेख का प्रयोजन

भारतीय संस्कृति के निर्माण में साधु–महर्षियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। धर्म का मंगलमय स्वरूप उनसे विकसित हो पाया है। उनके द्वारा दर्शनशास्त्र की सूक्ष्म विचारधाराएँ प्रवाहित हुई हैं। साहित्य का मुख्य स्रोत वही है तथा नीति एवम् सदाचार की भावना उनके ही कारण बलवती बनी है। इसीलिए वे सभी के लिये वन्दनीय रहे हैं तथा सदा के लिए सेवा–पूजा व भक्ति के पात्र माने गए हैं।

साधु–महर्षियों में भी एक वर्ग ऐसा है कि जो उत्कट त्याग, अद्भुत तपश्चर्या एवम् उच्च कोटि के चारित्र के कारण भिन्न पड़ता है। वह वर्ग अहिंसा व अनेकान्त द्वारा भारतीय जनता का महान उपकार कर रहा है। वह वर्ग है, जैन साधु, जैन-मुनि या जैन-श्रमणों का संघ।

उनके लिए डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए., पी–एच. डी. ने जो शब्द कहे हैं, उनको याद रखना उचित है "The Jain Sadhu leads a life which is praised by all. He practises the vratas and the rites strictly and shows to the world the way one has to go in order to realise the Atma." जैन साधु ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं कि जो सबों द्वारा प्रशंसनीय हुआ है। वे व्रत–विधान बड़ी सावधानी से करते हैं और आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए जो मार्ग अपनाना चाहिए, उसका दुनिया को दर्शन कराते हैं।

इस विषय में केन्द्रीय सरकार के वाणिज्य-मंत्री श्री मोरारजीभाई देसाई के भी शब्द याद करने योग्य है। उन्होंने बम्बई राज्य विधान परिषद में एक चर्चा के समय कहा था कि "I must say to the credit of Jains, that the sadhus of Jain have still maintained a large measure of austerity and sacrifice which other orders have not maintained to that extent"

"जैनों की प्रशंसा करते हुए मुझे कहना चाहिए कि जैन साधुओंने अभीतक तप और त्याग की विशाल मर्यादा का पालन उच्च कक्षातक किया है, जो अन्य सम्प्रदायवालों ने नहीं किया है।"

ऐसे पवित्र जैन-श्रमणों के आचार-विचार और विधान का जनता को सुस्पष्ट ख्याल देना, यही इस लेख का प्रधान प्रयोजन है।

: २ :

जैन-धर्म में श्रमणों का स्थान

जैन-धर्म में श्रमणों का क्या स्थान है? हम इस प्रश्न का प्रथम उत्तर देंगे।

जैन-धर्म में पंच-परमेष्ठियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। और उनके स्मरण-वन्दन को सर्वपापहर माना गया है। उसमें तीसरा चौथा और पाँचवाँ स्थान जैन श्रमणों को दिया गया है। श्री पंचपरमेष्ठी नमस्कार सूत्र पर एक साधारण दृष्टि डालने से यह बात समझ में आ जायेगी।

श्री पंचपरमेष्ठि-नमस्कार-सूत्रम्

नमो अरिहंताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्वसाहूणं॥

एसो पंच-नमुक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

इस सूत्र का भावार्थ है कि :

१ अरिहंतों को, अर्हतों को नमस्कार करता हूँ।
२ सिद्धों को, मुक्तात्माओं को नमस्कार करता हूँ।
३ आचार्यों को नमस्कार करता हूँ।
४. उपाध्यायों को नमस्कार करता हूँ।
५ लोक में रहे हुए सभी साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

ये पंच-नमस्कार सभी पापों का नाश करने वाले हैं और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है।

यहाँ पर स्पष्ट करना आवश्यक है कि आचार्य व प्रमुख श्रमण है, उपाध्याय ज्ञानसंपन्न श्रमण है और साधु सामान्य श्रमण है। अतः तीसरा चौथा और पाँचवाँ पद श्रमणवर्ग को वंदन करने के लिए ही आयोजित किया गया है।

जैनधर्म में श्रमणों को साक्षात् मगल माना गया है, लोकोत्तम माना गया है, तथा शरण्य अथात् शरण में जाने योग्य समझा गया है। यह आवश्यक सूत्र निम्नलिखित पाठों से समझा जा सकेगा।

चत्तारि मगल। अरिहता मगल। सिद्धा मगल। साहू मगल। केवलि पन्नत्तो धम्मो मगल॥

चत्तारि लोगुत्तम्मा। अरिहता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरण पवज्जामि। अरिहते सरण पवज्जामि। सिद्धे सरण पवज्जामि। साहू सरण पवज्जामि। केवलिपन्नत्त धम्म सरण पवज्जामि॥

चार (चीजें) मगल हैं। अरिहत मगल है। सिद्ध मगल हैं। साधु–श्रमण मगल हैं और केवलि प्रज्ञप्त (केवलज्ञान वाले भगवत द्वारा कहा गया) धर्म मगल हैं।

चार (चीजें) लोकोत्तम है। अरिहन्त लोकोत्तम हैं, सिद्ध लोकोत्तम हैं, साधु–श्रमण लोकोत्तम हैं और केवलि–प्रज्ञप्त धर्म लोकोत्तम है।

चार की शरण स्वीकार करता हू। अरिहन्तों की शरण स्वीकार करता हूँ, सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ, साधुओं–श्रमणों की शरण स्वीकार करता हूँ और केवलि प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

जैन–धर्म में साधुओं–श्रमणों की गणना तीन तारक तत्त्वों में की गई है, जो सम्यक्त्व ग्रहण करते समय बोली जाती निम्न गाथा परसे होती है।

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीव सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण-पन्नत्त तत्त, इअ सम्मत्त मए गहिअ ॥

मैं जीवित रहूँ तबतक अरिहंत मेरे देव हैं । सुसाधु अर्थात् श्रमण मेरे गुरु हैं । और जिन भगवंत द्वारा प्ररूपित तत्त्व मेरा धर्म है । भवसागर को तैरने के लिए मैंने यह शरण स्वीकार की है ।

तीर्थंकर अथात् अर्हन्त या जिन-आत्मा संपूर्ण विशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद धर्म-संघ का प्रवर्तन करते हैं । उनमें प्रथम स्थान साधु-साध्वियों को अर्थात् श्रमण-श्रमणियों को दिया जाता है और दूसरा स्थान श्रावक-श्राविकाओं को दिया जाता है । अत धार्मिक क्षेत्र में उनका प्रभाव प्रधान रहता है । आज कोई भी धार्मिक क्रिया उनकी अध्यक्षता म, निश्रा मे की जाती है । और जहाँ इस प्रकार अनुकूल परिस्थिति न हो वहाँ उन्हांकी स्थापना प्रस्थापित करके काम सम्पन्न किया जाता है। इसलिए पू श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने विशेषावश्यक भाष्य में बताया है कि ---

गुरु-विरहम्मि य ठवणा, गुरुवएसोवदसणत्थ च ।
जिण-विरहम्मि व जिण-बिंब-सेवणाऽऽमन्तण सफल ॥

जब साक्षात् गुणवन्त गुरु का विरह हो तब गुरु के उपदेश-आदेश को समीप म बताने के लिए स्थापना की जाती है । जैसे जिनेश्वर के विरह में उनकी प्रतिमा का सेवन और आमंत्रण सफल होता है, वैसे गुरु-विरह में गुरु की स्थापना भी सफल होती है ।

साक्षात गुरु का योग न मिलने से एक मनुष्यने गुरु-मूर्ति की स्थापना करके धनुर्विद्या प्राप्त करनेका दृष्टान्त हिन्दू-धर्म में सुप्रसिद्ध है ।

सारांश कि जैन-धर्म में श्रमणों को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है और उन्हें परमपूज्य परमाराध्य माना जाता है।

: ३ :

श्रमण शब्द की व्याख्या

आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि —

निव्वाण-साहए जोगे, जम्हा साहन्ति साहुणो।
समा य सव्व-भूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥ १००२ ॥

साध् धातु पर से साधु शब्द बना है। इस पर से साधुपद की व्याख्या की जाय तो जो निर्वाण-साधक योगों की अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराने वाली क्रियाओं या अनुष्ठानों की साधना करते हैं, वे साधु कहे जाते हैं। "स्व-पर-हित मोक्षानुष्ठान साधयतीति साधु" इस व्याख्या में भी ऐसा ही भाव रहा है। यदि भाव की सुदरता [illegible]
की जाय तो जो राग और द्वेष में खींच
अथवा सभी [illegible] मानकर सब
वे साधु [illegible]
[illegible] है कि जिसने
पहना है [illegible] है उसे जैन
अर्थात् [illegible] साधु के
साधु के [illegible] अर्थात्
कहते हैं।

श्री दशवैकालिक सूत्र में साधु की इन्द्रियात्मक व्याख्या इस प्रकार की गई है —

महुकारसमा बुद्धा, जे भवन्ति अणिस्सिया ।
नाणा पिंडरयादन्ता, तेण वुच्चन्ति साहुणो ॥ अ.१.गा.५ ॥

जो 'संसार असार है, काममोग निष्फल है,' ऐसा ज्ञान पाये हुए हों अर्थात् विराग के रंग से रंगे हुए हों, जो एक ही स्थान में प्रतिबद्ध न होते हुए विभिन्न स्थानों पर पैदल घुमनेवाले हों, जो इन्द्रियां तथा मन पर दमन करनेवाले हों तथा मधुकर या भ्रमर की तरह बहुत से स्थानों से थोडा-थोडा आहार ग्रहण करनेवाले हों अर्थात् माधुकरी गोचरी या भिक्षा पर निभनेवाले हों, वे साधु हैं ।

इस व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि जिन-साधु का आदर्श कितना उच्च है ।

ऐसे साधुओं को समगुण की प्रधानता के कारण समण कहा जाता है । श्रीउत्तराध्ययन सूत्र के २५ वे अध्ययन में कहा है कि —

समयाए समणो होइ, बभचेरेण बंभणो ।
नाणेण उ मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥

समता के द्वारा समण कहा जाता है, ब्रह्मचर्य द्वारा ब्राह्मण कहा जाता है, ज्ञान द्वारा मुनि कहा जाता है और तप द्वारा तापस कहा जाता है ।

समतया शत्रु-मित्रादिषु प्रवर्तते इति समण(न)

शत्रु-मित्रादि के प्रति जो समतापूर्वक वर्तन करते हैं, वे समण

सारांश कि जैन-धर्म में श्रमणों को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है और उन्हें परमपूज्य परमाराध्य माना जाता है।

: ३ :

श्रमण शब्द की व्याख्या

आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि —

निव्वाण-साहए जोगे, जम्हा साहन्ति साहुणो।
समा य सव्व-भूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥ १००२ ॥

साध् धातु पर से साधु शब्द बना है। इस पर से साधुपद की व्याख्या की जाय तो जो निर्वाण-साधक योगों को अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराने वाली क्रियाओं या अनुष्ठानों की साधना करते है, वे साधु कहे जाते हैं। "स्व-पर-हित मोक्षानुष्ठान साधयतीति साधु" इस व्याख्या में भी ऐसा ही भाव रहा हुआ है। यदि भाव की मुख्यता पर व्याख्या की जाय तो जो सम हैं अर्थात् राग और द्वेष में खींच नहीं जाते हैं अथवा सभी प्राणियों को अपने समान मानकर सद्व्यवहार करते हैं, वे साधु कहे जाते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जिसने साधु का वेष पहना है, परन्तु साधु के गुणों से जो रहित है उसे जैन शास्त्र द्रव्यसाधु अर्थात् नाममात्र का साधु कहते हैं। परन्तु जो साधु के वेष के साथ साधु के गुणों से भी पूर्ण है, उसे जैन-शास्त्र भावसाधु अर्थात् सच्चा साधु कहते हैं।

---

* राग-दोस—विरहिओ समत्ति।

श्री विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३४

श्री दशवैकालिक सूत्र मे साधु की शब्दार्थमक व्याख्या इस प्रकार की गई है —

महुकारसमा बुद्धा, जे भवन्ति अणिस्सिया ।
नाणा पिंडरयादन्ता, तेण वुच्चन्ति साहुणो ॥ अ.१.गा.५ ॥

जो 'ससार असार है, कामभोग निष्फल है,' ऐसा ज्ञान पाये हुए हो अर्थात् विराग के रग से रग हुए हो, जो एक ही स्थान में प्रतिबद्ध न होते हुए विभिन्न स्थानों पर पैदल घुमनेवाले हो, जो इन्द्रियों तथा मन पर दमन करनेवाले हो तथा मधुकर या भ्रमर की तरह बहुत से स्थानों से थोडा–थोड़ा आहार ग्रहण करनेवाले हो, अर्थात् माधुकरी गौचरी या भिक्षा पर निभनेवाले हो, वे साधु हैं।

इस व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि जिन–साधु का आदर्श कितना उच्च है।

ऐसे साधुओं को समगुण की प्रधानता के कारण समण कहा जाता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २५ वे अध्ययन में कहा है कि —

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण उ मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥

समता के द्वारा समण कहा जाता है, ब्रह्मचर्य द्वारा ब्राह्मण कहा जाता है, ज्ञान द्वारा मुनि कहा जाता है और तप द्वारा तापस कहा जाता है।

समतया शत्रु–मित्रादिषु प्रवर्तते इति समण(न)

शत्रु–मित्रादि के प्रति जो समतापूर्वक वर्तन करते है, वे समण

है। इस व्याख्या में उपर्युक्त भाव ठीक उतरता है। संस्कृत भाषा में समण शब्द का श्रमण संस्कार हुआ है। उसकी व्याख्या इस प्रकार दी गई है —

श्राम्यतीति श्रमणः—तप करनेवाला श्रमण है।

श्राम्यति श्रममानयति पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमणः—

जो पाँचों इन्द्रियों और मन को श्रम पहुँचाते अर्थात् संयम में रखते हों वे श्रमण हैं।

श्राम्यति संसारविषयखिन्नो भवति तपस्यतीति वा श्रमणः—जो श्रम पालते हैं अर्थात् संसार के विषयों से के प्रति उदासीन है—वैराग्य धारण करते हैं अथवा तप करते हैं, वे श्रमण हैं।

ये सभी व्याख्याएँ अपेक्षाविशेष से यथार्थ हैं। क्योंकि जैन श्रमण बहुत-सी तपश्चर्या करते हैं, इन्द्रिय और मन को नियंत्रण में रखते हैं और संसार को असार मानकर उसके प्रति विराग-वृत्ति रखते हैं।

• ४ •

श्रमण के पर्याय शब्द

जैनश्रमण ने गृह का—गृहस्थाश्रम का त्याग किया है, अतः उनके लिए कोई अगार—गृह नहीं होता है। इसलिए उनको **अणगार** कहा जाता है।

वे शुद्ध भिक्षा पर निर्वाह करते हैं, अतः वे **भिक्षुक या भिक्खु** कहे जाते हैं।

वे सिर पर केशलुंचन से मुंडन करते हैं, अतः वे मुंड कहे जाते हैं।

वे मोक्ष के लिए यत्न करते हैं इसलिए यति कहे जाते हैं तथा सम्यक् प्रकार से जीवरक्षादि संयम करते हैं अतः संयति कहे जाते हैं।

वे गृहस्थाश्रम की क्रियाओं से बहुत दूर निकल गए हैं, अतः उन्हें प्रव्रजित कहा जाता है।

वे ग्रंथ या परिग्रह रहित होते हैं अतः वे निर्ग्रन्थ या निर्ग्रंथ कहे जाते हैं।

वे प्रतिज्ञापूर्वक आरंभ-समारंभ, हिंसात्मक क्रियाओं से विराम पाये हुए हैं, अतः वे विरत हैं।

उन्होंने क्षमा-गुण को अपनाया है, अतः वे क्षान्त कहे जाते हैं। क्षमाश्रमण कहे जाते हैं।

इन्द्रिय और मन का दमन करनेवाले होने से वे दान्त कहे जाते हैं।

जिनेश्वर भगवान् की आज्ञाओं का हमेशा मनन करनेवाले होने से उन्हें मुनि कहा जाता है। "मन्यतेऽसौ मुनिः।"

वे बहुत-सी तपश्चर्या करते हैं, इसीलिए तपस्वी हैं।

वे ज्ञान द्वारा संसार को पार करते हैं, इसलिए ऋषि कहे जाते हैं। ऋषति ज्ञानेन संसार पारमिति ऋषिः। और साधारण ऋषियों से महान होने से महर्षि कहे जाते हैं। जैन-शास्त्रों में इन सभी नामों से उनका उल्लेख किया गया है।

परन्तु किसी किसी स्थान पर उन्हें योगी कहा गया है। क्योंकि वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप योग

साधना करते हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने ध्यान शतक में श्रमण भगवान महावीर की योगीश्वर के रूप में स्तुति की है।

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिन्धणं पणमिऊणं।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि॥

शुक्ल ध्यान स्वरूप अग्नि द्वारा कर्म स्वरूप इन्धनों को भस्म करनेवाले **योगीश्वर** और शरण्य, ऐसे श्री वीर को प्रणाम कर के मैं ध्यान सम्बन्धी अध्ययन कहता हूँ।

: ५ :

श्रमण होनेका कारण

जैनशास्त्र का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि आत्मा को अनन्त अक्षय-अव्याबाध सुख की प्राप्ति सिद्धावस्था में ही होती है कि जिसे परमात्मदशा या मुक्तदशा कहा जाता है। ऐसी दशा सर्व कर्मों के नाश किये बिना उत्पन्न नहीं होती है। अत सर्व कर्मों का नाश करना, उसे परम कर्तव्य माना गया है। यहाँ कर्म शब्द से नित्य-नैमित्तिकादि कर्म नहीं परन्तु भाग्य का कार्य करनेवाले सूक्ष्म पौदगलिक कर्म-स्कन्ध समझना है कि जिनके योग के कारण आत्मा की शक्तियां पर आवरण आ जाता है और आत्मा भवचक्र में विविध जन्म ले कर अनेकविध परतंत्रता, कष्ट और त्रास पाती है। सर्व कर्मोंका पूर्णत नाश होना, वह संयम, तप तथा ध्यान की उत्कट आराधना पर निर्भर है। और ऐसी आराधना श्रमण जीवन को स्वीकार करनेवाले को ही संभव हो सकता है। अत हरएक मोक्षाभिलाषी को अपने जीवन में श्रमण बनने का आदर्श अपनाना चाहिए।

श्रावक को धर्म आराधना के लिए जो तीन मनोरथ करने योग्य है, उनमें एक मनोरथ ऐसा है कि —

"कया णं अहं मुंडे भवित्ता आगाराउ अणगारियं पव्वइस्सामि !"

' कभी मैं मुंड होकर अगार यानि गृहवास छोड़कर अणगारता को स्वीकार करूँगा । "

तथा यह भी विधान है कि श्रावक आठ वर्ष की आयु के बाद श्रमण बनने में जितना विलम्ब करता है उतना उसे अपने को ठगा गया मानना चाहिए ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के पाँचवे अध्ययन में 'भिक्खुए वा गिहित्थे वा सुव्वए कम्मई दिवं' ऐसा एक पाठ आता है। उसका आधार ले कर कई लोग बताते हैं कि "गृहस्थ भी यदि सुव्रत का पालन कर अच्छा चारित्र रखता है तो वह दिव्यगति पा सकता है। तो श्रमणपन को स्वीकार क्यों करना चाहिए ?" हमारा उन लोगों से यही कहना है कि उसी अध्ययन में आगल पर कहे गए निम्न शब्दों पर ठीक विचार करें —

" गारत्थेहिं सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा " सर्व प्रकार के गृहस्थों की अपेक्षा साधु संयम में आगे है । सारांश कि एक गृहस्थ गृह में रह कर चाहे कितनी भी संयम की आराधना क्यों न करे परन्तु वह श्रमण की तुलना नहीं कर सकता है ।

यहाँ एक प्रश्न उठने का संभव है कि "यदि गृहस्थ-

मे रह कर मुक्तिपर्यंन की साधना न हो सकती हो तो श्री प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में पद्रह भेद सिद्धों का वर्णन करते हुए **'गिहिलिंग सिद्ध'** अर्थात् गृहस्थ के वेष में सिद्ध हुए हो, ऐसा पाठ क्यों दिया जाता है?" उसका उत्तर है कि सिद्ध होने का आधार कर्म के नाश के बल पर है। और ऐसा कर्मनाश गृहस्थ वेष में होने पर भी कभी कभी हो जाता है। परन्तु वह भी श्रमणत्व की आतरिक दशा अर्थात् ससार के सर्वसग के त्याग के आतरिक भाव सिद्ध करने से ही हो सकता है। और ऐसा भाव प्राय पूर्व जन्म में किये गए श्रमणत्व के पालन पर क्वचित् किसी को उथित होता है। अत उसको गणना सिद्ध के पद्रह भेद मे की गई है। परन्तु वह मुक्ति का राजमार्ग नहीं है। मुक्ति का राजमार्ग तो है श्रमण जीवन व्यतीत कर के कर्मक्षय करना। यदि गृहस्थ जीवन मुक्ति का राजमार्ग होता तो किसी भी तीर्थंकर को गृहस्थ जीवन का त्याग करके श्रमणावस्था को ग्रहण करने की आवश्यकता ही न रहती। परन्तु सभी तीर्थंकरों ने गृहस्थ–जीवन का त्याग कर के श्रमणावस्था स्वीकार की है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि केवल श्रमणावस्था ही मुक्ति का राजमार्ग है।

श्रामण्य स्वीकार करनेके पीछे जो विचारधाराएँ काम कर रही हैं, उनका कुछ ख्याल श्री उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लिखित निम्न शब्दों से आता है।

कामभोग क्षणमात्र के लिए सुख और दीर्घकालीन दुःख देने वाले हैं। जिस चीज मे बहुत दुःख हो, उसे सुखकर कैसे माना जाय?

अत कामभोग ये ससार में से मुक्ति पाने के मार्ग के अवरोधक हैं और एकात अनर्थ की खान हैं।

विषयसुख के लिए इधर उधर भ्रमण करनेवाला जीव कामभोग से सर्वदा रात्रि–दिवस जलता ही रहता है। और कामभोग में आसक्त जीव दूसरे के लिए दूषित प्रवृत्ति करनेवाला होता है, और धनादि साधनों की खोज में अन्त में बुढ़ापे से घिर जाता है और मृत्यु की शरण हो जाता है।

यह (सुवर्ण, घरबार इत्यादि) मेरा है और यह मेरा नहीं है, यह मैंने किया और यह मैंने नहीं किया, इस प्रकार चिल्लानेवाले प्राणी के आयुष्य की चोरी रात्रि और दिवस रूपी चोर कर रहे हैं। अतः प्रमाद क्यों करें? जल्दी ही, बिना विलम्ब संसार के कामभोगपूर्ण जीवन को छोड़कर प्रशस्त श्रामण्य स्वीकार करना चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि इस प्रकार वैराग्य–भावना से ग्रहण किया गया श्रमण–जीवन उत्तम है। परन्तु सभी गृहस्थ श्रमण हो जायें तो समाज का क्या होगा? यानी समाज टूट जायेगा। अतः उस पर कोई नियन्त्रण या मर्यादा होना आवश्यक है। इस विधान के बारे में हमारा स्पष्ट अभिप्राय है कि वह एक प्रकार का कुतर्क है। अर्थात् वह महत्वहीन है नगण्य है। श्रमण बनने की भावना रखना और विधिवत् दीक्षा ग्रहण करना, इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। अतः सभी गृहस्थ श्रमण बनने की भावना रखते हों, फिर भी एक ही समय पर वह सभी श्रमण बन गए ऐसा कभी बना नहीं है और बन सकेगा भी नहीं। इतना ही नहीं लेकिन श्रमण बनने की उत्कट इच्छा भी सभी को कहाँ होती है? वह इच्छा तो उसे ही होती है, जिसका मन संसार से समूचा उठ गया हो और इससे किसी भी प्रकार के कामभोग में आनन्द आता न हो। ऐसी स्थिति

में बहुत कम व्यक्तियों म होती है। उनमें भी श्रमण बनने की शक्ति और योग बहुत कम लोगों में होता है। श्रामण्य स्वीकार करनेवाला की संख्या बहुत अल्प होती है। अत उस पर मर्यादा या नियंत्रण डालने का कोई प्रश्न ही नहा उठता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि यदि श्रमणजीवन उत्तम है तो उसका स्वीकार भी अधिक से अधिक मनुष्य करें, यही इष्ट है। भूतकाल मे श्री कृष्णवासुदेव, सप्रति महाराजा और कुमारपाल भूपाल इत्यादि अनेक महानुभावों न इसी कारण श्रमण जीवन को भारी महत्त्व दिया और इस प्रकार प्रबल पुण्यराशि उपार्जन कर के अपना जीवन सार्थक किया है। इस प्रकार भारी प्रोत्साहन दिये जाने वाले समय में भी समाज के अमूक व्यक्तियों ने ही श्रामण्य स्वीकार किया था। अत सभी व्यक्तियों के श्रमण बन जाने की बात आकाश के बाग में से सभी फूल टूटे जाने की बात के समान निरर्थक है।

श्रमण अधिक हों तो समाज पर एक तरह का बोझ बढेगा, क्योंकि उनको वस्त्र, पात्र और भिक्षा तो समाज से ही पाना है। यह विचार भी कई स्थानों पर उठा है। परन्तु यह विचार अर्थहीन है। जैन श्रमण किसी पर कर डालकर या कर्तव्य बताकर अपने वस्त्र, पात्र या भिक्षा पाते नहीं है। परन्तु जो अपनी स्वेच्छा से उन चीजों को बटोराते हैं, नमस्कार दान करते हैं, उनसे ही ग्रहण करते है। अत समाज पर बोझ पडने की भी उनसे कोई संभावना नहीं है। पाठक आगे भिक्षा इत्यादि नियमों को देखेंगे तो पता चलेगा कि जैन श्रमण किसी को भी भाररूप हुए बिना सहज भाव से प्राप्त होनेवाली वस्तुओं पर ही

अपना निवाह करते है। अत उनके लिए इस प्रकार का भ्रम रखना निरर्थक है। दूसरी ओर वे मानवता, नीति, सयम, सदाचार, अहिंसा, सत्य, त्याग, परोपकार, इत्यादि उत्तम सिद्धान्तों का प्रचार कर के समाज के अनिष्ट तत्त्वों को दूर कर नैतिक स्तर बढ़ाने में और जीवन जीने को सहायभूत बनने में कितना महान योग देते है, उस ओर बिल्कुल उपेक्षा नहीं की जा सकती है। श्रमण जीवन की इस मूल्यवत्ता उपयोगिता पर आगे चर्चा करेंगे।

: ६ :

श्रामण्य किसे दिया जाय ?

श्रमण सघ म सम्मिलित होने के लिए विधिपूर्वक प्रव्रज्या या दीक्षा लेना आवश्यक है। ऐसी दीक्षा हरएक को दी नहीं जा सकती है। परन्तु योग्यतावाले व्यक्ति पुरुषों को ही दी जाती है। इस बारे में श्री हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु के चतुर्थ अध्याय मे कहा है कि "**अर्हः अर्हसमीपे विधिप्रव्रजितो यतिरिति**" जो प्रव्रज्या ग्रहण करने का अधिकारी हो और अधिकारी गुरु के समीप जा कर विधिपूर्वक प्रव्रजित हुआ हो, उसे यति, अर्थात् साधु या श्रमण कहा जाता है।

ससार से दूर जाने की क्रिया को अथवा प्रकृष्ट ऐसे चारित्रयोग की ओर गमन करने की क्रिया को प्रव्रज्या कहा जाता है। उसमे व्रत स्वीकार इत्यादि विधि होती है। अत वह दीक्षा भी कही जाती है।

जैन शास्त्रकारों ने दीक्षा लेने की योग्यता के बारे में सूक्ष्म विवेचन किया है। जिसका सार यह है कि जो व्यक्ति

विशिष्ट भाव ज्ञात करना कठिन है। अत उसे ज्ञात करने की बात पर आधार रखना बेकार है।

: ७ :

श्रामण्य किसको नही दिया जाता?

जैन श्रमण संघ में आठ वर्ष से कम उम्रवाले को, साठ या सत्तर वर्ष से अधिक उम्रवाले वृद्ध को, स्थूल को, व्याधिग्रस्त को, चोर को, राजापकारी को, उन्मत्त यानि पागल को, खरीद गए दास या गुलाम को, बहुत कषाय करनेवाले को, बार बार विषयभोग की इच्छा करनेवाले को, मूढ को, ऋणार्त (जिसके सिर पर बहुत कर्ज हो गया हो) को, जाति, कर्म तथा शरीर से दूषित को, पैसों की लालच को लेकर आनेवाले को, भगाकर लाये गये को,—इनमें को दीक्षा नही दी जाती। दीक्षा लेने वाला १६ वर्ष की आयु से कम आयु का हो तो उसके मातापिता या अभिभावक की अनुमति बिना दीक्षा नहीं दी जाती। स्त्री सगर्भा हो या बालक स्तनपान करता हो तो, उसे भी दीक्षा नहीं दी जाती।

बाल दीक्षा के बारे में कुछ विचारणा

पुरुष को जन्म से आठ वर्ष तक बालक माना जाता है। ऐसे बालक को दीक्षा देना योग्य नहीं है। इस विषय में प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि 'वरिसे वयप्पमाण अट्ठ समाउत्ति वीयरागेहिं। भणिय जहन्नग खलु,—दीक्षा लेनेवाले पुरुषों की आयु का प्रमाण श्री वीतराग प्रभुने जघन्यपन से निश्चय आठ वर्ष का बताया है। तात्पर्य कि

आठ वर्ष से कम आयु का पुरुष दीक्षा लेने के लिए योग्य नहीं है।

निशीथचूर्णि में भी कहा है कि 'आदेसण वा गब्भट्ठमस्स दिक्खन्ति—अर्थात् दूसरे विकल्प से, गर्भ से आठ वर्ष का आयुवान् को दीक्षा दी जाय, परन्तु कम आयु वाले को दीक्षा न दी जाय।

इस के कारण 'पंचवस्तु' नामक ग्रंथ में इस प्रकार बताए हैं—

तदधो परिभवखेत्त, न चरणभावो वि पायमेएसिं।

आहच्च भाव कहगं, सुत्तं पुण होइ नायव्वं ॥

आठ वर्ष के भीतर वर्तनवाला पुरुष पराभव का क्षेत्र होता है। लोग उसे बालक मानकर उसका पराभव करते हैं। और आठ वर्ष से कम आयुवाले पुरुष को प्राय चारित्र का परिणाम भी हो सकता नहीं है। यहां कोई कह सकता है कि 'वज्र स्वामी के लिए ऐसा नियम कहाँ रहा है? शास्त्रों में ऐसा सूत्र दिखाई देता है कि **"छम्मासिय छसु-जय माऊए समन्निय वंदे—"** छ मास के, छ जीवनिकाय का रक्षा करने वाले और माता द्वारा अर्पण किए गए ऐसे वज्र स्वामी को मैं वन्दन करता हूँ।' उसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि वज्र स्वामी के लिए यह जो सूत्र है, वह कदाचित्—भाव को बताता है। अत ऐसी घटना क्वचित् ही घटती है। सर्वत्र नहीं। यहां प्रासंगिक यह स्पष्ट आवश्यक होगा कि श्री वज्रस्वामी के सिवाय भी कई आचार्यों को आठ वर्ष की आयु के पहले दीक्षा दी गई है। जैसे कि —

विशिष्ट भाव ज्ञान करना कठिन है। अत उसे ज्ञात करने का आधार रखना बेकार है।

: ७ :

श्रामण्य किसको नही दिया जाता

जैन श्रमण सघ मे आठ वर्ष से कम उम्रवाले को सत्तर वर्ष से अधिक उम्रवाले वृद्ध को, स्थूल को, व्याधि चोर को, राजापकारी को, उन्मत्त यानि पागल को, खरीद गुलाम को, बहुत कषाय करनेवाले को, बार बार विषयभ करनेवाले को, मूढ को ऋणार्त (जिसके सिर पर कर्ज गया हो) को जाति, कर्म तथा शरीर से दूषित को, बैर को लेकर आनेवाले को भगाकर लाये गये को,—इतने दी जाती। दीक्षा लेने वाला १६ वर्ष की आयु से हो तो उसके मातापिता या अभिभावक का अनुम नहीं दी जाती। स्त्री सगर्भा हो या बालक स्तनपान क भी दीक्षा नहा दी जाती।

बाल दीक्षा के बारे मे कुछ विचा

पुरुष को जन्म से आठ वर्ष तक बालक मा बालक को दीक्षा देना योग्य नहा है। इस विषय मे में कहा है कि एएसि वयप्पमाण अट्ठ समाउत्ति अहन्नग खलु,—दीक्षा लेनेवाले पुरुषों की आयु का प्रमुख जघन्यपन से निश्चय आठ वर्ष का बता

मुख्य उद्देश्य विसरमिता नहीं परन्तु सर्व मोहक त्यागपूर्वक नानादि कैवल्य प्राप्त करके संसार-सागर पार करना है। कहा है कि —

महता पुण्यपण्येन, क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं भवोदधेर्गन्तु, त्वर यावन्न भिद्यते ॥

पुण्यस्वरूप बहुत-सा मूल्य चुकाकर नून यह शरीरस्वरूप नौका खरीद की है। अत उसके विनाश के पहले उसके द्वारा भवसागर पार करने की त्वरा कर।

और यह भी कहा गया है कि —

सपदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि।
शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः, किं धनैः ? कुरुत धर्ममनिन्द्यम् ॥

सपत्ति जल के तरंग की तरह चचल है। यौवन तीन-चार दिनों की चान्दनी है। आयुष्य शरद् ऋतु की तरह क्षणिक है। अत धन कमाने से क्या होगा ? इस लिए पवित्र धर्म को आचार में लाओ।

परन्तु प्रमादी-पापी-मनुष्य यह हित-शिक्षा को ध्यान में नहीं लेता है ? वह बाल्यावस्था खेलने में व्यतीत करता है, युवावस्था भोग-विलास में प्रमाद करता है और वृद्धावस्था अनेक प्रकार की चिंताओं में पूरी करता है। इस प्रकार मनुष्य-जीवन,-कि जो बहुत लम्बे समय के बाद बड़े परिश्रम से महान उद्देश्य की पूर्तिके लिए प्राप्त हुआ है,-उसका परिणाम शून्य पर पहुँच जाता है।

इस लिये ज्ञानियों को कहना पडा है कि —

'दुर्लभ' बहुत परिश्रम से प्राप्त हो

और **'विज्जुलया चचल'** विद्युत की तरह चचल,

'माणुसत्त लद्धूण' मनुष्य जीवन पाकर, **'जो पमायए'**

जो आदमी उसका सदुपयोग करने में लापरवाह रहता है **'सो काापुरुषो'** वह कापुरुष है, निर्बल है। परन्तु **'न सप्पुरिसो'** वह सत् पुरुष, सज्जन नहीं है।

और उस कायरता, प्रमाद नष्ट करने के लिए कहना पड़ा है कि —

उत्थायोत्थाय बोद्धव्य, किमद्य सुकृत कृतम् ?।
आयुषः खण्डमादाय, रविरस्तमय गत.॥

हे मनुष्यो ! तुम निद्रा में से उठ उठकर ध्यान मूढता में से मानव होकर विचार करो।

'आयुष्य का एक टुकड़ा लेकर सूर्य अन्ताचल के समीप गया इतने समय में मैंने क्या सुकृत किया ?'

फिर भी मनुष्य अपने प्रमाद को दूर नहीं करता है और धर्म के मार्ग पर यथिन गति से नहीं जाता है तो उसके कान खोलने के लिये कहा है कि —

मा सुअह जग्गिअव्वे, पल्लाइअव्वमि कीस वीसमह ?।
तिन्नि जणा अणु लग्गा, रोगो अ जरा य मच्चू अ ॥

हे मनुष्य ! तू जागने के समय में सो नहीं और पलायन होने के समय रुक नहीं क्योंकि तेरे पीछे रोग, जरा और मृत्यु नामक तीन महान दुश्मन पड़े हुए हैं।

ऐसी परिस्थिति में मनुष्य बाल्यावस्था में ही त्याग के मार्ग पर चलकर अपना तथा दूसरों का कल्याण करे, उसमें अनुचित क्या है?

यहाँ शायद ऐसा माना जायेगा कि सभी कार्य धीरे से और क्रमशः करने से ही सिद्ध होते हैं। अतः धर्म का आराधना भी धीरे धीरे और क्रमशः करना चाहिए। अतः प्रथम मार्गानुसरण, (मार्गानुसारी के ३५ बोल के अनुसार वर्तन करने की तालीम) फिर सम्यक्त्व (जैनत्व) का व्यवहार और बाद में देशविरति (श्रावक के व्रत) और फिर सर्वविरति अर्थात् साधु जीवन की दीक्षा। इस क्रम का अनुसरण किया जाय तो ही यह दीक्षा सफल होती है। परन्तु प्रारंभ से ही सर्वविरति की दीक्षा देना इष्ट नहीं है। उसका उत्तर है कि '**धर्मस्य त्वरिता गति.**' अन्य कार्य क्रमशः और मन्द गति से ही, यह ठीक है, परन्तु धर्म के कार्य में ढील नहीं करनी चाहिए। क्योंकि परिस्थिति कब पलटा लगी और मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ कब बदल जायगी, उसका पता नहीं चलता। एक बार मनुष्य लाख रुपयों का दान करने को तैयार होता है और दूसरी बार सौ रुपये देने को भी तैयार नहीं होता। इसी प्रकार आदमी एक बार पचरंगी (पांच उपवास) अट्ठाइ (आठ उपवास) या पन्द्रहखमण (पंद्रह उपवास) करने के लिये उत्साहित होता है तो दूसरी बार अष्टमी, चतुर्दशी का उपवास करने के लिए भी तैयार नहीं होता। अतः अच्छी परिस्थिति का, अच्छे आलम्बनों का और अच्छे निमित्तों का त्वरित सदुपयोग कर लेना चाहिए। जो लोग धीरे धीरे और क्रमशः धर्म की आराधना करना चाहते हैं, उनके लिए ज्ञानी भगवन्तों ने ऊपर

लिखा क्रम बतलाया है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि सब को इसी क्रम से आगे बढ़ना चाहिए और वैराग्य से संसारत्याग का लि की इच्छा तमन्ना होने पर भी दीक्षा को स्वीकार न करके संसार में प्रतिबद्ध बन रहना। साराश कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि श्रमण-दीक्षा स्वीकार करने के पूर्व श्रावक के सभी व्रत उसके द्वारा पालित होने चाहिए या मार्गानुसारी गुणों का दीर्घकाल अनुमरण किया होना चाहिए। योग्य गुरुओं द्वारा पहले जो बताया गया है, उसके अनुसार दीक्षा लेने वाले का योग्यता की परीक्षा की जाती है और योग्यता मालूम पड़ने पर दीक्षा दी जाती है। और दीक्षा का कौन अच्छा पालन कर सकेगा और कौन न कर सकेगा, उसका निर्णय वे अपने ज्ञान के अनुसार उसी समय करते हैं और उस निर्णय के पीछे अनुभव का विशाल बल होने के कारण यह निर्णय अधिकांश सही निकलता है।

कोई लोग कहते हैं कि बाल्यावस्था अर्थात् अठारह वर्ष तक की आयु तो केवल खेलने और विद्याध्ययन के ही लिए है। अतः उसको दीक्षा या कष्ट व्रत-नियम से बाँधना उचित नहीं है। यह तो उसके ऊपर जुल्म गुजारना है। इसलिए इस प्रकार की दीक्षाएँ हमेशा के लिए बन्द कर देनी चाहिएँ और यदि साधु इस बात को स्वीकार न करें तो कानून द्वारा इस पर रोक लगानी चाहिए।

हमारा अनुमान है कि इस मान्यता में तथ्य की अपेक्षा आवेश का प्रभाव अधिक है अतः सुज्ञ जनों के लिए स्वीकार्य हो सकता नहीं है। अठारह वर्ष तक की आयु केवल खेलने और विद्याध्ययन के लिए ही है, ऐसा किस आधार पर कहा जाता है? क्या उस के पीछे,

रोग, ज्रा, मृत्यु नामक दुश्मन नहीं पड़े हैं? क्या उनके आयुष्य का एक टुकड़ा लेकर सूर्य प्रतिदिन अस्ताचल के समीप जाता नहीं है? तो क्या पूर्वजन्म के विशिष्ट संस्कार से ऐसे बालक विशिष्ट गुणवाले और विकास की शक्ति वाले नहीं होते हैं? जीवन को यदि एक प्रकार की इमारत माना जाय तो बाल्यावस्था ही उसकी बुनियाद है अतः पूर्व के विशिष्ट संस्कार न हो फिर भी इस बुनियाद की पूर्ति धर्म के संस्कार और धर्म की भावना से मजबूत करनी चाहिए। अन्यथा जीवनरूपी इमारत अनेक बार उठनेवाले कुवासनारूप झंझावतों में खड़ी नहीं रह सकेगी। इसी कारण सुज्ञ पुरुष अपने बालकों को गळथुथी में ही धर्म के संस्कार देते हैं और वे थोड़े समझदार हों कि तुरत ही धार्मिक शिक्षण देना शुरू कर के सद्गुरुओं के संग में रखते हैं। तथा दया, सत्य, सज्जनता के उपरांत नवकार मंत्र का स्मरण, नित्य देवदर्शन, अभक्ष्य त्याग, रात्रिभोजन त्याग इत्यादि नियमों से परिचित करते हैं। ऐसे संस्कार तथा तालीम मिलने से कुछ ही समय में एकासन, आयंबिल या उपवास जैसा तप करने के भी अभ्यासवाले बनते हैं और पर्व के दिनों में पौषधादि भी करते हैं। इस प्रकार की तालीम पाये हुए १०–१२ वर्ष के बालकों ने उपधान–तप जैसी कठोर तपश्चर्या भी की है। दूसरी ओर जिन बालकों को माता–पिता की ओर से ऐसी तालीम मिली नहीं है, ऐसे बालकों को एक उपवास, एक आयंबिल, एक एकासण या केवल नवकारसी करने को कहा जाय तो, भी उनके लिए कठिन होगा। जैनों के उपवास, जैनों की तपश्चर्या को देख कर आज हजारों लोग कहते हैं कि 'ऐसे कड़े उपवास कैसे किए जायें?

दूध का भी उपयोग नहीं किया जाता और फलों का भी नहीं। रात को तो पानी भी बिल्कुल बंद किया जाता है। बापरे! हम ऐसी कठोर तपश्चर्या करें तो दूसरे दिन खडे न हो सकें।' परन्तु अनुभव बताता है कि उनका यह भय वास्तविक नहीं है। वे भी आदती हो जायें तो ऐसी तपश्चर्या सुखपूर्वक कर सकते हैं।

यही चीज दीक्षा लेनेवालों को भी समझ लेनी चाहिए। उस के व्रत–नियम बाहर बहुतसे कठिन दिखाई देते हैं, परन्तु एक बार आदमी उन से आदती हो जाता है तो फिर उस कठिन नहीं लगते। जिन्होंने जीवन के प्रारंभ से ही त्याग और तप की तालीम ली है, उन के लिए तो वे सरल हैं।

व्रत और नियम एक प्रकार से नियंत्रण तो हैं ही परन्तु उन का स्वेच्छा से स्वीकार किया गया है अत त्रासरूप नहीं होता। तीस चालीस तोले के चांदी के कडले पैर में डालने वाली ललनाओं से पूछिए कि उनसे तुम्हें त्रास होता है? या किसी तपस्वी से पूछें कि प्रात से शाम तक किसी प्रकार का भोजन नहीं किया है तो क्या कोई त्रास होता है? हमारा विश्वास है और मान्यता है कि इन दोनों प्रश्नों के उत्तर 'ना' में मिलेंगे। इतना ही नहीं परन्तु वह ललिताएं ललना और तपस्वी कहेंगे कि उस में उन्हें बडा आनंद मिलता है। क्योंकि दोनों चीजों का स्वीकार उन्होंने अपनी इच्छा से किया है। और उन्हें विश्वास है कि वे उनके लिए हितकर हैं। दूसरी ओर एक महिला को इतने ही वजन की लोहे की एक जंजीर पहनाई जाय और उसे ज्ञात होगा कि उसे कैदखाने में जाना पडेगा तो उस के मन की स्थिति क्या

होगा? वह रो उठेगी, चिल्लायगी और अपने सगे सम्बन्धियों से विनय करेगा, कृपा कर के मुझे इस बन्धन से मुक्त कराओ। इसी प्रकार एक पुरुष को प्रातः से साम तक भूखा रहने को विवश किया गया हो तो? और भोजन मे केवल दो घण्टे की देरी होती है तो भी उसके गुस्से की सीमा नहीं रहता। इसलिए वह लडेगा, झगडा करेगा और सम्भव होगा तो पीटेगा भी। इस स्थिति को हम त्रासरूप कह सकते हैं और किसी को जबरदस्ती से इस स्थिति में डालें तो यह कहा जा सकता है कि उस-पर जुल्म किया गया। परन्तु जिस स्थिति का यान जिन व्रत नियमों का वह स्वय स्वेच्छा से स्वीकार करता है और जिस म उसे आनन्द मिलता है, वहा त्रास या जुल्म की कल्पना करना, वह सत्य का खून करने जैसी बात है। आज भारत में अनेक बाल–दीक्षित विद्यमान हैं। उनसे पूछिये कि इन व्रत–नियमों को स्वीकार करने से क्या आपको कोई त्रास होता है? या आप लोगों पर कोई जुल्म किया गया हो, ऐसा लगता है? उसका उत्तर ना में मिलेगा। तो फिर यह शब्दछल और चिल्लाहट क्यों? क्या ऐसे कल्पित कारणों को ले कर सर्व दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली भागवती दीक्षा पर रोक लगाना उचित है? हम तो आगे बढ कर यह भी कहते हैं कि प्रत्येक पुरुष को अपनी मान्यता के अनुसार धर्म मानने का आचार में रखने का और प्रचार करने का अबाधित अधिकार है। उसे हम कैसे रोक सकते हैं? और इस प्रकार यदि किसी का त्याग को रोक सकेंगे तो उस व्यक्ति को मानसिक त्रास होगा और यह सिद्ध होगा कि हमने उसपर जुल्म किया। अतः इस प्रकार की बातों से सुज्ञपुरुषों को आकृष्ट न होते हुए अपनी बुद्धि को—

ग्यकर सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए।

इतना विचारणा के बाद हम आश्रम व्यवस्था को ले और उसके बाद में और स्पष्टता करें। एक समय इस देश में आश्रम व्यवस्था कार्यान्वित थी परन्तु पिछले कई वर्षों से वह कार्यान्वित में कहाँ है? आज तो वह मृतप्राय हो गई है। गुरु समीप जा कर २५ वर्ष तक विद्याध्ययन कौन करता है? कई तो १६, १८या २० वर्ष का उम्र में ही लग्न कर के संसार शुरू करते है। और कोई भी धंधा लेकर अपना गुजारा करते हैं। फिर ५० वर्ष की उम्र में वानप्रस्थ होने वाले कितने लोग है? अधिकांश लोग जीवन के अंतिम श्वास तक संसार के कार्य-कलापों मे फँसे हुए होते है और जब मृत्यु समीप आ कर खडी होती है तब "हा! हा!" हमने जीवन में कई इच्छाएँ की परन्तु कुछ न कर पाये!" ऐसा खेद करते हुए उसकी शरण में चले जाते है। अत: आश्रम-व्यवस्था की ओट में लघु वय में दी जाती दीक्षा का निषेध करना वह किसी भी तरह से उपयुक्त नहीं है।

संसार की सभी परिस्थितियों का ख्याल करके ही ऋषि-मुनियों ने ये शब्द कहे है कि –"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन दीक्षा लेना चाहिए।

कई लोग कहते है कि आठ वर्ष के अन्दर के पुरुषों को दीक्षा दी जाती नहीं है, वह योग्य है। परन्तु आठ से अठारह वर्ष की आयु के पुरुष भी वास्तव में बालक ही है। क्योंकि इस अवस्था में वे अपने हिताहित का विचार कर सकते नहीं हैं। सरकारी कानूनन भी अठारह वर्ष की आयु को ही सम्मति वय माना है। अत: अठारह वर्ष से

कम आयु वालों को भी दीक्षा के लिए अनधिकारी मानना चाहिए।

'आठ से अठारह वर्ष की आयुवाले पुरुष अपने हिताहित का विचार कर सकते नहीं हैं,' यह कथन ठीक होने पर भी सर्वांश से सत्य नहीं है। क्योंकि इस अवस्था में भी कई पुरुषोंने अपनी बुद्धि व शक्ति का परिचय दिया है कि जो बड़ा उम्रवाले पुरुष दे सकते नहीं हैं। **ध्रुवने** इसी अवस्था में कठोर तपश्चर्या की थी। **प्रह्लादने** इसी अवस्था में ही परम प्रभुभक्ति का परिचय दिया था। **श्रीमद् शंकराचार्यने** इस अवस्था में ही अप्रतिम बुद्धि का परिचय देकर सन्यास-मार्ग ग्रहण किया था। **श्री हेमचंद्राचार्यने** इसी अवस्था में अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके प्रकाण्ड विद्वत्ता प्राप्त की थी। **नामदेवने** इस अवस्था में ही दृढ संकल्प करके **विठोबा** को दूध पिलाया था। **श्रीमद् राजचंद्र** ने इसी अवस्था में शतावधान के प्रयोग करके जनता को आश्चर्य चकित कर दिया था। **शहनशाह अकबर ने** इसी अवस्था में विशाल सल्तनत का कारोबार संभाल लिया और सफलतापूर्वक उसका संचालन भी किया था। तथा सुप्रसिद्ध लेखकों कवियों तथा चित्रकारों के जीवन पर दृष्टि डालेंगे तो पता लगेगा कि उन्होंने इसी अवस्था में अपनी नैसर्गिक शक्ति का परिचय विश्व को देना शुरू किया था। और क्रमशः विकास कर के अंत में परमयश के अधिकारी बने थे। अतः इस अवस्था में भी अनेक पुरुष अपने हिताहित की परिस्थिति समझ सकते हैं। और पूर्व जन्म के संस्कारों को लेकर जीवन के किसी न किसी क्षेत्रमें अपनी शक्ति से असाधारण रूपमें चमक उठते हैं। ऐसे पुरुष स्वभावतः वैराग्य, भलाई, त्याग, योगाध्ययन या ईश्वरोपासना, वै

सभवित दोषो का मातुओ को–श्रमणों को परिहार करना चाहिए। परन्तु ऐसा कहना उचित नहो है क्योकि जिन्हो न भोगों को अच्छी तरह भोगा है और जिनको योग्य वय समाप्त हो चुकी है, ऐसे ऋषियों के लिए भी सभवित दोष तो समान ही है। लेकिन विषय के सग का अनुभव नहीं करनेवाले ऐसे कई पुरुष विषयसग का विषमता में फसे न होने क कारण अच्छे ढग से दीक्षा का पालन कर सकते हैं और लोगों मे सन्देहरहित होकर जगतपूज्य पद पर विराजित होते है, एवम् अपना हित सिद्ध करने के उपरात अनेकानेक योग्य आत्माओ को सन्मार्ग के पुजारी बनाते हैं।

हमारा अनुभव हमें कहता है कि जिन्होंने लघु वय से श्रामण्य पाया है, वे अनेक शास्त्रों का क्रमश तलस्पर्शी अध्ययन करके महाविद्वान बने हैं और प्रारभ से ही सत्सग के कारण चारित्र शिरोमणि होकर महात्मा के रूप में विश्व में विख्यात हुए हैं। अत लघुवय में योग्य आत्माओं को गुरुओं द्वारा दिया जाता श्रामण्य अनर्थ की परम्परा उत्पन्न नहीं करता है, परन्तु जीवन का क्रमश विकास करता है। अत उसका तो अनुमोदन करना अत्यावश्यक है।

इन सभी बातों का विचार कर के शासनवर्ग को बालदीक्षा पर रोक लगानेवाले किसी भी विधेय को स्वीकृत नहीं करना चाहिए। क्यों कि उसमें ही समाज तथा देश का हित रहा हुआ है।

हम सुज्ञ पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं कि बम्बई राज्यकी ओर से बालदीक्षा विधेय के बारे में सन् १९५५ के आखिर में लोकमत मांगा गया था। उसका परिणाम भयकर विरोध में आया है। अत उस विधेय को स्थगित कर दिया गया है।

: ८ :

अनुज्ञा

[प्रव्रज्या के लिए सम्मति]

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में मृगापुत्र के अधिकार में कहा गया है कि —

> सुयाणि मे पंच महव्वयाणि,
> नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणीसु।
> निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ
> अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ! ॥

मैंने पाँच महाव्रत सुने हैं। नर्क और तिर्यग् योनि के दुःख सुने हैं। संसार-रूपी सागर से निवृत्त होने की मुझ में भावना जाग्रत हुई है इसलिए प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। हे माता ! मुझे आज्ञा दीजिए।

> मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्ख-विमोक्खणिं।
> तुब्भेहिं अम्बऽणुन्नाओ, गच्छ पुत्त जहा सुहं ॥

हे माता-पिता ! आप दोनों की अनुज्ञा पा कर मैं मृगचर्या अर्थात् श्रमणपन को आचार ग्रहण करूँगा। प्रव्रज्या सभी दुःखों से मुक्ति देने वाली है। माता-पिता बोले, जाओ पुत्र ! यथासुख विचरो।

> एवं सो अम्मापियरं अणुमाणित्ताण बहुविहं।
> ममत्तं छिन्दई ताहे महानागो व्व कंचुयं ॥

इस प्रकार माता पिता को अनुमत करके वह विरागी जीव, महा सर्प जैसे कंचुकी को त्याग देता है वैसे, अनेकविध ममत्व को त्याग देता है।

उसी सूत्र में समुद्रपाल का अणगार–प्रव्रज्या का वर्णन करते हुए बताया है कि —

सबुद्धो सो तहिं भगवं परमसंवेगमागओ।
आपुच्छऽम्मापियरो पव्वए अणगारियं॥

व महापुरुष इस प्रकार बोध पाय, परम संवेग अर्थात् उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुए और इससे मातापिता से आज्ञा प्राप्त कर अणगार धर्म में प्रव्रजित हुए।

इन शब्दों से यह स्पष्ट होता है कि वैराग्य पाने के बाद दीक्षार्थी का प्रथम कर्तव्य है माता पिता की अनुज्ञा अर्थात् अनुमति या सम्मति प्राप्त करना। सम्मति यानी 'ठीक तू दीक्षा ले' ऐसी आज्ञा।

श्री हरिभद्रसूरिजी महाराजने धर्मबिन्दु के चतुर्थ प्रकरण में विशेष सूत्र की रचना करके बताया है कि 'तथा–गुरुजनाद्यनुज्ञेति'। २३॥ (दीक्षार्थी को) मातापितादिकी आज्ञा मांगनी चाहिए। यहाँ आदि शब्द से पुत्र, पत्नी इत्यादि परिवार के शेष सदस्यों को समझना है।

प्रश्न—यह नियम छोटे बड़े सभी की दीक्षाओं को लागू होता है।

उत्तर—'हाँ।'

प्रश्न—श्रामण्य किस को दिया नहीं जा सकता है। इस विषय की चर्चा करते हुए आपने बताया था कि १६ वर्ष की आयु से ऊपर की आयुवालों को तो अनुज्ञा के बिना भी दीक्षा दी जा सकती है। क्योंकि

इसमें शिष्य निष्फेटिका दोष लगता नहीं है। यहाँ तो आप अनुज्ञा, अनुमति-सम्मति की बात सभी के लिए करते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर —उस प्रसंग पर जो कहा है, वह यथार्थ है। १६ वर्ष से अधिक आयु वालों को अनुज्ञा बिना दीक्षा देने में शिष्य-निष्फेटिका दोष लगता नहीं है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि १६ वर्ष से अधिक आयुवाले सभी को बिना अनुज्ञा दीक्षा दी जाती है। और स्पष्ट कहा जाय तो अनुज्ञा पूर्वक दीक्षा देना वह सुविहित क्रम है। राजमार्ग है। आज तक उसका अनुसरण हुआ है। जब अनुज्ञा बिना दीक्षा देना वह अपवाद स्वरूप है। अत उसका सेवन तो असामान्य परिस्थिति में ही कोई कोई बार हुआ है। ऐसे अवसर पर दीक्षा देने वाले को शिष्यनिष्फेटिका दोष लगता नहीं है। यही उस कथन का तथ्य है। श्री गौतम स्वामीने किसान को दीक्षा दी तथा श्री सम्भूति विजय आचार्य ने श्री स्थूलभद्रजी को रास्ते में दीक्षा दी थी, उन घटनाओं को अपवाद समझना है। महापुरुष किसी असाधारण परिस्थिति में निश्चित कदम उठाये तो सामान्य लोगों को उसका अनुसरण नहीं करना है। उन लोगों को तो स्वाङ्कल नियमों को लेकर ही चलना का है।

प्रश्न—सामान्यत सभी माता-पिता यही चाहते हैं कि मेरा पुत्र बड़ा हो, पढ़े-लिखे, अर्थोपार्जन करे, अच्छी स्त्री के साथ विवाह करे, अपना वंश बढ़ाए तथा परिवार की प्रतिष्ठा की रक्षा करे। ऐसी परिस्थिति में वे अपने पुत्र-पुत्रियों को संसार छोड़ने की अनुज्ञा कैसे देंगे?

उत्तर—माता पिता की सामान्यत ऐसी इच्छा होती है। फिर भी वे अपने पुत्र-पुत्री का कल्याण चाहते हैं। अत जिस मार्ग से

कल्याण होने का विश्वास होगा, उस मार्ग पर जाने की अनुज्ञा-सम्मति-अनुमति देगा। मृगापुत्र को तथा समुद्रपाल को मातापिता ने कैसे अनुमति दी? आज भी अनेक माता-पिता अपने पुत्र-पुत्रियों को कैसे अनुमति देते हैं?

प्रश्न—सारी बात को समझने पर भी मोह के प्राबल्य को लेकर अनुज्ञा न दे तो?

उत्तर—ऐसे अवसर पर वे अनुज्ञा दे, ऐसी युक्ति का विधान भी है। जैसे कि आज मैंने यह स्वप्न देखा कि मैं गधे ऊँट, भैंसे पर सवार हुआ हूँ। अतः मुझे अपने जीवन का भरोसा नहीं है। मैंने स्वप्न मे कई देवियों को रास लेते हुए देखा है। वे मेरे सामने देख कर अट्टहास्य करती थीं। अतः मुझे लगता है कि अब मेरा आयुष्य अल्प है। एक सुविख्यात ज्योतिषी ने मुझे बताया है कि अमुक वर्ष में तुम्हारे लिए योग साधना का योग है, इत्यादि-इत्यादि। इस प्रकार युक्ति करने में परमार्थ से धर्म साध्य है। अतः उसमें किसी प्रकार का दोष माना नहीं जाता।

प्रश्न—माता-पिता यह जानने पर भी उसके बिना निर्वाह करने में असमर्थ हों, तो क्या किया जाय?

उत्तर—ऐसी परिस्थिति में अपनी शक्ति के अनुसार मातापिता आदि कुटुम्बी लोगों के मन का समाधान करने का यत्न करे, निर्वाह के लिए द्रव्यादि का यथाशक्ति प्रबन्ध करे ताकि जिससे बाद में कोई परेशानी न हो। ऐसा करने में कृतकृत्यता होगी। जैन मार्ग की प्रभावना का बीज करुणा है। अतः माता-पिता को खुश कर के उनकी आज्ञा प्राप्त कर दीक्षा लेना इष्ट माना जाता है।

प्रश्न —जो माता-पिता अपने स्वार्थ के लिए अपने वैराग्य-वासित पुत्र-पुत्री को दीक्षा की अनुज्ञा देने के लिए तैयार नहीं तो क्या वे शत्रु नहीं है? अध्यात्मकल्पद्रुम नामक ग्रंथ में कहा गया है कि —

माता पिता स्व सुगुरुश्च तत्त्वात्
प्रबोध्य यो योजति शुद्धधर्मे।
न तत्समोऽरि क्षिपते भवाब्धौ,
यो धर्मविघ्नादिकृतेश्च जीवम् ॥

वास्तव में माता पिता, स्वजन, सुगुरु वही है, जो अपने पुत्र-पुत्री को धर्म-मार्ग पर लगाते है। और जो धर्म के मार्ग में व्यवधान कर के प्राणी को (अपने पुत्र-पुत्रियों को) भवसागर में फेंकते हैं उनके जैसे अन्य कोई शत्रु नहीं है।

उत्तर— ये वचन माता पिता के लिए हितशिक्षा रूप हैं। अतः उन्हें धर्म की आराधना करनेवाले अपने पुत्र पुत्रियों को कभी रोकना नहीं चाहिए। बल्कि उन को युक्ति से उपदेश दे कर धर्म के मार्ग पर बढ़ाना चाहिए। व्यवहार नीति में कहा गया है कि —**माता शत्रु पिता वैरी येन बालो न पाठित** —वह माता शत्रु है, वह पिता वैरी है, जो अपने बालकों को पढ़ाता नहीं है। इन शब्दों का उच्चारण ऐसा भाव से किया गया है। परंतु उसका अर्थ यह नहीं है कि उन को शत्रु मान लिया जाय और ऐसा व्यवहार किया जाय। ऐसा करने से तो गृहस्थाश्रम के सामान्य धर्म का लोप होगा और सर्वविरति जैसे एक सर्वोच्च त्याग धर्म की बात करनेवाले के लिए शोभनीय नहीं है।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिजीने धर्मबिन्दु में गृहस्थ के सामान्य धर्म का

वर्णन करते हुए बताया है कि 'तथा मातृपितृपूजेति'।१।।३१।। माता-पिता की पूजा करनी चाहिए, अर्थात् त्रिकाल प्रणाम इत्यादि भक्ति करनी चाहिए। कहा है कि बिना अवसर भी चित्त में उच्च प्रकार से आरोपित किए गए गुरुवर्ग को त्रिकाल प्रणाम करना वह भी उनकी पूजा ही है। यहाँ गुरुवर्ग में किसको माना जाय? उसकी स्पष्टता करते हुए बताया गया है कि

> माता पिता कलाचार्यः एतेषां ज्ञातयस्तथा।
> वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः ॥

माता, पिता, कलाचार्य (कला की शिक्षा देनेवाले गुरु) तथा उनके बंधुजन एवम् वृद्ध तथा धर्मोपदेशकों को सत्पुरुष गुरुवर्ग में मानते हैं।

इस गुरुवर्ग को कैसे सम्मान दिया जाय? इस विषय में भी उन्होंने कहा है कि

> अभ्युत्थानादि योगश्च तदन्ते निभृतासनम्।
> नामग्रहश्च नास्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित् ॥

गुरु जन को आते हुए देख कर खड़े होकर उनके सामने जाना और सुखशाता पूछना। उनके पास निश्चल होकर बैठना चाहिए। (बार बार बैठ-उठ नहीं करना चाहिए।) अनुचित स्थान पर उनका नाम-ग्रहण नहीं करना चाहिए और कभी उनकी निंदा नहीं सुननी चाहिए।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिजीने इस सूत्र के बाद तुरंत ही दूसरे सूत्र की रचना की है और कहते हैं कि

आमुष्मिकयोगकारण तदनुज्ञया प्रवृत्तिः प्रधानाभिनवोपनयन तद्भोगे भोगोऽन्यत्र तदनुचितादिति ॥१॥३२॥

माता पिता को परलोक क धर्म व्यापार म प्रेरणा करना चाहिए। उनकी अनुज्ञा से इसलोक और परलोक के कामों म प्रवृत्ति करनी चाहिए। कोइ श्रेष्ठ या नई चीज प्राप्त हो तो सर्व प्रथम उह भेट करनी चाहिए तथा जो चाज न्न्हाने व्रत के कारण छोड दी हो, उसे छोड कर शेष चीजों का उपयोग उनके द्वारा उपयोग किए जान के बाद करना चाहिए।

इस पर से यह स्पष्ट होता है कि हरएक गृहस्थ को अपन माता–पिता के प्रति कैसा पूज्य भाव रखना चाहिए। कोइ समय उनके वचन कडुवे हो, या व पुत्र–पुत्रियों द्वारा मान्य धर्म–आराधन म पूरा प्रोत्साहन न देत हो, या उदासिनता बताते हो, तो इसी कारण उनको शत्रु मान लेना नहीं है। अपना माताओं पर उनका उपकार इतना बडा होता है कि उसका बदला दिया जा सकता नहीं है। फिर उनको शत्रु मान लेन का धृष्टता तो कैसे की जा सकता है।

श्रीमान् हरिभद्र सूरिजीने धर्मबिन्दु में **'तथा–भर्तव्यभरणमिति' ॥१॥३४॥** सूत्र म कहा है कि जिनका पालन–पोषण करना योग्य हो, उनका पालन पोषण करना चाहिए। माता–पिता, अपन आश्रित स्वजन तथा सेवक इत्यादि का पालन पोषण करना चाहिए। और उन्होंने यह भी बताया है कि **तथा–तस्य यथोचित विनियोग इति ॥ १ ॥ ३५ ॥** भरण पोषण करन योग्य जनों को अपने लिए योग्य काम में लगाना चाहिए एवम् **तथा–तत्प्रयोजनेषु बद्धलक्षतेति ॥१॥३६॥** उस,

लिए रहे उनके इस जीवन के तब तक निर्वाह इत्यादि की चिंता करके उनके समकितादि औषध के निमित्त तथा अपने को चारित्र्य लाभ हो इसलिए गुरुजन का त्याग करने वाला पुरुष उत्तम माना जाता है।

प्रश्न —इस प्रकार उनका त्याग करने से परिवार में रोनेकी और चिल्लाने की परिस्थिति खड़ी होने का संभावना है या नहीं? और यदि ऐसी परिस्थिति खड़ी हो तो उसका दोष दीक्षार्थी को लग सकता है या नहीं?

उत्तर —इस प्रकार उनका त्याग करने से रोने का और चिल्लाने की परिस्थिति खडी होने का संभावना है। परन्तु यदि परिस्थिति अपरिहार्य है तब दूसरा क्या किया जा सकता है? वह रोना और चिल्लाना मोह के आधीन होता है। अतः उसका दोष दीक्षार्थी को लगता नहीं है। इस लिए पंचवस्तु में कहे गए निम्न शब्दों को विचारना योग्य है।

अब्भुवगमेण भणिय ण उ विहिचाओऽवि तस्स हेउत्ति।
मोगम्मि वि तेसिं मरणे य विशुद्धचित्तस्स॥

जैसे विशुद्ध चित्त से मरनवाली आत्मा को बाद में स्वजनों के शोकादि से पाप लगता नहीं है। वैसे आत्मा के लिए स्वजनों का विधिवत् त्याग करने वाले को उन के शोकादि से पाप लगता नहीं है।

इस विवेचन का सार यह है कि दीक्षार्थी को मातापितादि का त्याग अवश्य करना है, परन्तु वह त्याग उपर्युक्त विधि के अनुसार होना चाहिए। ताकि उनकी ओर से दीक्षा में कोई प्रामाणिक अवरोध न हो और झगड़ा को लेकर बाद में न्यायालय में जाने की परिस्थिति पैदा न हो।

: ९ :

प्रव्रज्या विधि

जैन श्रमणों की प्रव्रज्या विधि क्या है, यह भी जानना चाहिए। अतः उसके बारे में यहाँ सामान्य विवेचन किया जाता है।

प्रव्रज्या याने दीक्षा की अभिलाषा को लेकर कोई भी पुरुष अपने पास आवे तब जैन श्रमण उनको अनुग्रह बुद्धि से स्वीकार करते हैं। अतः निष्पाप जीवन ग्रहण करने की बुद्धि से उसे प्रव्रज्या ग्रहण कराई जाती है। परन्तु अपने पेट (संघ) की पूर्ति होगी, ऐसी बुद्धि से प्रव्रज्या नहीं दी जाती।

जैन शास्त्रों में प्रव्रज्या स्वीकार करने की इच्छा से सम्मुख आने वाले भव्य जीव को यह प्रश्न पूछने की विधि है कि 'हे वत्स! तू कौन है? कहाँ से आता है? और क्यों प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर बना है?' इस प्रश्न का उत्तर यदि वह इस प्रकार दे कि —'हे भगवन्! मैं कुलपुत्र हूँ। अतः अमुक वंश का हूँ, अमुक जाति का हूँ और अमुक माता पिता से पैदा हुआ हूँ। अमुक गाँव—नगर या पुर—पाटण से आता हूँ और भवपरम्परा को भयानक समझ कर उसके विनाश के लिए प्रव्रज्या —दीक्षा लेने के लिए तैयार हुआ हूँ'। फिर उसे प्रश्न शुद्ध समझा जाता है अर्थात् दीक्षा देने योग्य समझा जाता है। यदि उत्तर ठीक ठीक प्राप्त न हो या सन्देह जैसा लगे तो उसे प्रव्रज्या देने के बारे में गहराई से विचार कर के निर्णय किया जाता है। यहाँ निमित्त शास्त्र द्वारा अर्थात् शकुनादि से भी शिष्य की परीक्षा करने की विधि है।

फिर प्रव्रज्या दाक्षार्थी के सामने साधु-क्रियाओं का व्याख्यान दिया जाता है कि साधु-धर्म क्या है और उसे पालन से या न पालन से क्या परिणाम आता है, यह बराबर समझाया जाता है। क्योंकि प्रव्रज्या कायर पुरुषों के लिए बड़े दुःख से पालन की जा सके, ऐसी है। यदि उसकी सम्यग् रूप से आराधना की जाय तो वह मोक्षरूपी फल को देने वाली है, परन्तु उसकी विराधना की जाय तो वह ससारफल स्वरूप दुःख देनेवाली है। जैसे कुष्ठादि व्याधि से ग्रस्त मनुष्य चिकित्सा शुरू करने के बाद अपथ्य का सेवन करने से चिकित्सा शुरू नहीं करने वालों की अपेक्षा जल्दी विनष्ट होता है, उसी प्रकार कर्मफल स्वरूप व्याधि के क्षय के लिए प्रव्रज्या अर्थात् संयम रूप भाव-क्रिया को स्वीकार कर के बाद में असंयम रूप अपथ्य का सेवन करता है, वह अधिक कर्म का समुपार्जन करता है।

तात्पर्य कि हे वत्स ! तू प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर बना है यह बड़ा प्रसन्नता की बात है, परंतु उसका ठीक पालन कर सकेगा या नहीं ? उसका फिर एक बार शांत चित्त से विचार कर। जैन दीक्षा अन्य दीक्षा जैसा साधारण या सरल नहीं है। परन्तु बहुत ऊँच कोटि की वस्तु है। अतः वह वज्र जैसा दृढ़ संकल्प चाहता है। वह तुममें है या नहीं ? उसको अपनी आत्मा की कक्षा ध्यान में रखकर निर्णय कर।

इस के उत्तर में यदि वह ऐसा कहे कि मैं जैन दीक्षा का महत्व ठीक ठीक समझ पाया हूँ। और उसको ठीक ढंग से पालन करूँगा। फिर भी उसकी और परीक्षा की जाती है। क्यों कि

असत्याः सत्यसङ्काशाः सत्याश्चासत्यसन्निभाः।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्माद् युक्तं परीक्षणम् ॥ १ ॥

अतथ्यान्यपि तथ्यानि, दर्शयन्ति हि पेशलाः।
चित्रे निम्नोन्नतानीव, चित्रकर्मविदो जनाः ॥ २ ॥

इस ससार में असत्य सत्य जैसे और सत्य असत्य जैसे विविध स्वरूप में दिखाई देते हैं। अत उसकी परीक्षा करना आवश्यक है। जो चित्रकर्म जानने वाले लोग अपनी कुशलता के कारण चित्रपट समतल होने पर भी उसे ऊँचा–नीचा बनाते हैं उसी प्रकार अति कुशलता को धारण करनेवाला आत्मा झूठी वस्तुओं को भी सत्य के रूप में बतलाती है।

यहाँ कहने का भावार्थ यह है कि उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर में दीक्षार्थी जो जवाब देता है, मात्र उस ही को न मानकर सत्य परिस्थिति का नाप निकालने के लिए परीक्षा का मार्ग ग्रहण किया जाता है।

यह परीक्षा सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र की परिणति के विषय में होती है। इसलिए शास्त्र में कहा है कि "परीक्षा च सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-परिणतिविषया।" अत दीक्षार्थी आत्मा सुदेव, सगुरु और सुधर्म कि श्रद्धा को प्राप्त हुआ है या नहीं? और यदि ऐसी श्रद्धा प्राप्त की हो तो वह श्रद्धा मजबूत है या नहीं? उसकी जाँच की जाती है। इसके साथ प्रशम संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यक्त्व सूचके लक्षण उसमें कहाँ तक विकसित हुए हैं? उसका भी अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार दीक्षार्थी के ज्ञान की परीक्षा की जाती है। अत उसे जीव अजीव, पुण्य पाप आश्रव, संवर निर्जरा, बँध और मोक्ष, कि जो जैन धर्म द्वारा स्वीकृत नव तत्त्व हैं उनका कुछ बोध हुआ है या नहीं? यह कुछ प्रश्न पूछ कर जान लिया जाता है बाद में

चारित्र के परिणाम क्यों हुए ? और उसके स्वरूप तथा प्रकारों से ज्ञात है या नहीं ? उसकी जाच की जाती है । इस परीक्षा का काल कितना समझा जाय ? इस विषय में शास्त्रकारों ने कहा है कि —

अब्भुवगयपि सत पुणो परिक्खेज्ज पवयणविहीए।
छम्मास जा ऽऽ सज्ज व, पत्त अद्धाए अप्प बहू ॥

प्रश्न और साधुधर्म के कथन द्वारा दीक्षार्थी को स्वीकार करने के बाद भी प्रवचन की विधि के अनुसार अर्थात् अपनी चर्चा द्वारा उसकी फिर परीक्षा करनी चाहिए । इस परीक्षा का काल छ माह तक का है । यदि दीक्षार्थी विशेष योग्यता वाला हो तो यह काल बहुत कम भी किया जा सकता है । और इससे उल्टा हो तो काल बढ़ाया भी जा सकता है।

विधियुक्त परीक्षा लेने के बाद उसकी योग्यता से ज्ञात हो कर उसने उपधान तप न किया हो तो भी उसे कण्ठ से सामायिक सूत्र अर्पण किया जा सकता है। परन्तु प्रथम ही पाटीपर लिख कर दिया जा जा सकता नहीं है । पात्र मानकर उसे इर्यापथिकी आदि अन्य सूत्र भी पढ़ाये जाते हैं।

श्री हरिभद्र सूरिजीने धर्मबिन्दुमें 'तथा उपायत' कायपालन मिति' ।४।३६। इस सूत्र द्वारा बताया है कि दीक्षार्थी को निर्दोष अनुष्ठान के अभ्यास स्वरूप उपाय द्वारा पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, इन षड जीव निकाय के जीवों का पालन कर सके ऐसा बनाना है। भावार्थ कि उसे सूत्रदान उपरान्त अहिंसा का तालीम देने की भी विधि है।

इस समय दरम्यान दीक्षार्थी के दीक्षा लेने के भाव क्रमशः बढ़ते रहे, यह आवश्यक माना गया है। तथा भाववृद्धि करणमिति ।४।३७॥ और उस की शक्ति के अनुसार देव, गुरु तथा संघ की पूजा इत्यादि में द्रव्य का त्याग तथा अनशन, तप इत्यादि का अध्ययन भी जरूरी माना गया है। तथा शक्तितस्त्यागतपसीति ।४।३९॥

यह प्राथमिक जाँच समाप्त होने के बाद उचित काल की अपेक्षा रखी जाती है। अतः दीक्षा देने के लिये अच्छा मुहूर्त देखा जाता है। इस बारे में कहा गया है कि –

तिहिं उत्तराहिं तह रोहिणीहिं कुज्जा उ सेहनिक्खमणं।
गणिवायए अणुन्ना महव्वयाणं च आरुहणा ॥
चउद्दसीपन्नरसिं वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।
छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च, दोण्हंपि पक्खाणं ॥

तीन उत्तरा नक्षत्र अर्थात् उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपद और उत्तरा फाल्गुनी तथा रोहिणी नक्षत्र के बारे में शिष्य को निष्क्रमण अर्थात् दीक्षा देनी चाहिए। गणिपद, अथवा वाचकपद की अनुज्ञा तथा महाव्रत की आरोपणा भी उसमें ही करनी चाहिए।

दीक्षा ग्रहण करने में दोनों पक्षों की चतुर्दशी, पूनम, अष्टमी नौम, छठ, चौथ, और द्वादशी, इन तिथियों का वर्जन करना चाहिए।

शास्त्रकारों ने प्रव्रज्या के सम्बन्ध में प्रव्रज्याशुद्धि, कालशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, दिशाशुद्धि, और वन्दनाशुद्धि, इन पाँच शुद्धियों का विधान किया

* शास्त्राध्ययन की योग्यता के लिए किया जाता एक प्रकार का तप।

है। उनमें प्रश्नशुद्धि और कालशुद्धि पर हम देख गए। कालशुद्धि के बारे में विशेष विचार गणिविद्या नामक प्रकरण में किया गया है।

क्षेत्रशुद्धि अर्थात् दीक्षा देने के लिए शुद्ध स्थान की पसंदगी। इस विषय में शास्त्रकारों ने कहा है कि –

उच्छुवणे सालिवणे पउमसरे कुसुमिए वणखंडे।
गंभीर साणुणाए पयाहिणजले जिणहरे वा॥

इख और डांगर (चावल) के वन में–खेत में, पद्म सरोवर के तटपर, पुष्प सहित वनखंड में अर्थात् बाग, वाड़ी, बगीचा या उद्यान में, बहने वाले जल के समीप अर्थात् दाहिना ओर बहने वाले स्रोत या नदी के तटपर तथा जिनगृह, जिनचैत्य में दीक्षा देना चाहिए।

इस प्रकार क्षेत्रशुद्धि करने का कारण यह है कि उससे सामायिकादि के परिणाम प्रगट होते हैं और ऐसे परिणाम प्रगट होने से वह स्थिर होता है।

दिशाशुद्धि के लिए कहा गया है कि –

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व दिज्जाऽ वा पडिच्छेज्जा।
जाए जिणादओ वा दिसाए जिणचेइयाइ वा॥

पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख अथवा जिस दिशा में केवली भगवंत विचरते हों या जिनचैत्य आया हुआ हो, उस दिशा के सम्मुख बैठाकर शिष्य को दीक्षा देना चाहिए।

इसलिए आजकल जिनवर भगवंत का समवसरण स्थापित करके उनके सम्मुख प्रव्रज्या की विधि की जाती है।

वन्दनादि शुद्धि म चैत्यवन्दन–देववन्दन और कायोत्सर्ग तथा वासक्षेप, रजोहरण और वेशसमर्पण की क्रियाएँ समझनी है।

इस प्रकार जिसकी विशिष्ट शुद्धि हुई है ऐसा दीक्षार्थी श्राम ण्य के योग्य माना जाता है और गुरुमहाराज उसे सर्वविरति का–पाप व्यापार के सर्वांश से त्याग का प्रत्याख्यान कह कर सामायिक नामक प्रथम चारित्र की दीक्षा देते हैं। उस समय उसके पास नीचे के पाठ का उच्चारण कराया जाता है।

करेमि भंते ! सामाइय सावज्ज जोग पच्चक्खामि, जाव-ज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि ॥

हे भगवन ! मैं सामायिक करता हूँ, यानि सब पाप व्यापार छोड़ने की प्रतिज्ञा करता हूँ। जबतक जीवित रहूँगा, तबतक तीनों प्रकार से अर्थात् मन से, वचन से और काया से पापव्यापार करूँगा नहीं, कराऊँगा नहीं और दूसरा कोई करता होगा तो उसे अच्छा न मानूँगा। हे भगवन ! भूतकाल में मुझ से जो पाप–व्यापार हुआ हो, उससे मैं वापस लौटता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ। उस की गर्हा करता हूँ। और अपनी आत्मा का विसर्जन करता हूँ अर्थात् इस प्रकार की मलिन प्रवृत्ति से अपनी आत्मा को मुक्त करता हूँ।

तत्पश्चात् पंच महाव्रत और छठा रात्रिभोजन–विरमण ग्रहण कराया जाता है। अब दीक्षार्थी नियमानुसार साधु या श्रमण माना जाता

है। और इसी समय उसके नामकरण की विशिष्ट विधि सम्पन्न होती है। और उसके बाद वह उस नामसे पहचाना जाता है।

बाद में गुरु उसे हितशिक्षा देते हैं। अत जिस श्रामण्य को स्वीकार किया है, उसका यथानियम पालन करने का उपदेश देते हैं। फिर श्रमण–जीवन का प्रारंभ होता है।

: १० :

पांच महाव्रत

दीक्षार्थियों को 'करेमिभते' पाठ से सर्व पाप के परिहारस्वरूप सामायिक नामक जो चारित्र ग्रहण कराया जाता है, उसकी पूर्तिरूप पाच महाव्रत और छठा रात्रि–भोजन विरमण व्रत का उच्चार कराया जाता है। अत उन व्रतों का विशेष परिचय देना आवश्यक है।

सर्व प्रथम उन व्रतों के नाम तथा उनके अर्थ समझ लें। बाद में उन्हें धारण करने की विधि के बारे में देखेंगे।

पाच महाव्रतों के नाम

(१) प्राणातिपात–विरमण–व्रत।

(२) मृषावाद–विरमण–व्रत।

(३) अदत्तादान–विरमण–व्रत।

(४) मैथुन–विरमण–व्रत।

(५) परिग्रह–विरमण–व्रत।

जैन शास्त्रों में पाच प्रकार के चारित्र माने गए है। (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसपराय और (५) यथाख्यात,

पाच महाव्रतों के अर्थ

प्राग का अनिपात, वह प्राणानिपात। यहाँ प्राण शब्द से जैनशास्त्र में मान गए दस प्रकार के प्राण अथात् पाच इन्द्रियाँ, मनोवल, वचन-बल, कायबल, श्वासोछ्वास और आयुष्य, समझना है। अतिपात अर्थात् अतिक्रमण, व्याघात या विनाश। अत वनस्पति से लेकर चीटी, कीडे, पशु, मनुष्य इत्यादि किसी भी जाव के प्राग को हानि पहुँचानी, नाश करना या उसे पाडित करना उसे भी प्राणानिपात कहा जाता है। हिंसा, घातना, मारणा, विराधना, सरभ, समारभ,, आदि उसके पयायवाची शब्द हैं। इस क्रिया से विमुख होना यानी अलग होना, वह है प्राणाति-पात-विरमण-व्रत।

मृषा एसा जो वाद, वह है, मृषावाद। यहाँ मृषा शब्द अप्रिय, अपथ्य तथा अतथ्य का सूचक है। जब वाद शब्द वदन या कहने का भाव सूचित करता है। अत अप्रिय बोलना या अतथ्य बोलना उसे मृषावाद कहा जाता है। अलीक वचन, असत्य, झूठा ये उसके पर्याय-वाची शब्द है। उनमे विमुख होना यानी अलग होना, वह व्रत मृषावाद-विरमण-व्रत है।

अदत्त का आदान वह अदत्तादान है। जो चीज उसके मालिक ने स्वखुशी से न दी हो, उसे अदत्त कहा जाता है। उसका आदान यानि ग्रहण करना वह है अदत्तादान। स्तेय या चोरी, ये दोनों प्रसिद्ध नाम हैं। उसे विमुख होना याने अलग होना, वह अदत्तादान-विरमण-व्रत है।

मिथुन का भाव वह मैथुन है। नरमादा के जोडे को मिथुन कहा जाता है। उनके परस्पर भोग करने की वृत्ति-क्रिया, वह मैथुन

है। व्यवहार में उसे अब्रह्म, कामक्रीड़ा, विषयभोग या सभोग कहा जाता है। उससे विमुख यानि अलग होना—यह है मैथुन–विरमण–व्रत।

परि उपसर्ग के साथ ग्रह धातु स्वीकार या अपनाने का अर्थ बताता है। अत जिस चीज का स्वामित्व–भाव से स्वीकार किया गया हो, वह परिग्रह है। उससे विमुख होना या अलग होना यह व्रत परिग्रह–विरमण–व्रत है।

इन व्रतो को स्वीकार करते समय निम्न पाठ बोले जाते है —

प्रथम महाव्रत का पाठ

पढमे भन्ते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमण। सव्व भन्ते पाणाइवाय पच्चक्खामि। से सुहुम वा, बायर वा, तस वा, थावर वा, नेव सय पाणे अइवाइज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवाय तेऽवि अन्न न समणुजाणामि, जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करतपि अन्न न समणुजाणामि तस्स भते। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि। पढमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण ॥१॥

हे भन्ते ! जीवहिंसा में से विमुख होना यह प्रथम महाव्रत है। (यह मैं समझ पाया हूँ।) अत हे भदन्त ! मैं सर्व प्रकार की जीव हिंसा का त्याग करता हूँ। किसी भी प्राणी, चाहे वह सूक्ष्म हो या बादर हो, त्रस हो या स्थावर हो, परन्तु मै स्वय उसकी हिंसा करूँगा नहीं, दूसरो से कराऊँगा नहीं तथा यदि कोई करता होगा तो उसका मैं समर्थन नहीं करूँगा।

जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक मन, वचन और काया इन तीनों से मैं जीवहिंसा नहीं करूँगा, हिंसा न कराऊँगा और यदि कोई करता होगा तो मैं उसका समर्थन न करूँगा। हे भगवन्! भूतकाल में जो कुछ जीवहिंसा की गई उससे मैं वापस आता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और उस हिंसा करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भगवन्! सब प्रकार की जीव हिंसा से विमुक्त होकर मैं प्रथम महाव्रत में स्थिर होता हूँ।

यह महाव्रत सभी में मुख्य है। अतः उसे पहले लिया गया है।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, ये जीव के छः वर्ग हैं। ये छः वर्ग ही एक-दूसरे के प्रति हिंसा परिग्रहादि द्वारा स्वरक्षण के निमित्त बनते हैं।

प्रश्न—पृथ्वीकाय किसे कहा जाता है?

उत्तर—पृथ्वी ही जिसकी काया है, उसे पृथ्वीकाय जीव कहा जाता है। मिट्टी, विविध प्रकार के पत्थर, स्फटिक, मणि, रत्न, हिंगलोक, हडताल, मनशील, पारा, सुवर्ण इत्यादि नाना प्रकार की धातुएँ उसके प्रकार हैं।

प्रश्न—अप्काय किसे कहते हैं?

उत्तर—अप् यानी पानी है जिसकी काया, उसे अप्काय जीव कहा जाता है। पृथ्वी पर स्थित पानी अर्थात् कुँए, वाव, तालाब, सरोवर का पानी, आकाश का पानी अर्थात् वर्षा का पानी, बर्फ का पानी, हरियाली पर का पानी इत्यादि पानी के विभिन्न प्रकार हैं।

प्रश्न —तेजस्काय किसे कहा जाता है?

उत्तर —तेजस् याना अग्नि जिसकी काया है, वह तेजस्काय जीव है। अंगार का अग्नि, ज्वाला का अग्नि, गन्धक का हुआ अग्नि, (भरसाइका अग्नि) उल्कापात का अग्नि, वज्र का अग्नि, कणक का अग्नि, बिजली का अग्नि इत्यादि उसके प्रकार हैं।

प्रश्न —वायुकाय किसको कहते हैं?

उत्तर—वायु ही जिसकी काया है, उसे वायुकाय जीव कहा जाता है। शुद्ध वायु (मन्द—मद लहरता हो वह), महावायु, झंझावात इत्यादि उसके प्रकार है।

प्रश्न —वनस्पति काय किसको कहते हैं?

उत्तर —वनस्पति ही जिसकी काया है, वह वनस्पतिकाय जीव है। वृक्ष, लता, गुल्म, घास, धान्य, इत्यादि उसके विविध प्रकार हैं।

प्रश्न —त्रसकाय क्या है?

उत्तर —जो जीव हलन चलन कर सके ऐसी कायावाले हों, उसे त्रस–काय कहा जाता है। चींटी, मच्छर, मक्खी, कुन्थू, मछली, साँप, पक्षी, पशु, मनुष्य इत्यादि उसके विभिन्न प्रकार हैं।

इस व्रत को लेकर श्रमण किसी भी प्रकारसे पृथ्वी को न खोदे, कुएँ, बावडी या सरोवर में से जल भर उसका उपयोग न करें या उसमें पडकर स्नान न करे, किसी प्रकार का अग्नि प्रगट न करें, सामान्य या बिजली के पंखे का उपयोग न करे, किसी भी वनस्पति का फल, फूल, शाखा, पत्ते, या मूल को न तोडे, इतना ही नहीं परन्तु उनका स्पर्श तक न करें। वे चींटी, मक्खी, मच्छर, मछली, साँप, पक्षी, पशु,

मनुष्य इत्यादि का हिंसा न करे। वे कहीं भा जाना चाहे तो पैदल जाये, परन्तु किसी भा स्थिति में पशु पर सवारी न करें और उसके द्वारा खींचे जानवाले वाहन का उपयोग भा न करें। क्योंकि उस पर सवारी करने से उसे पीडा होती है, दुःख होता है।

वे सोते, बैठते तथा उठते समय हमेशा यह ख्याल रखें कि किसी भी जीव को विराधना (दुःख या नाश) न हो। इस प्रकार आदर्श अहिंसामय जीवन प्रसार करें।

अहिंसा, यह धर्म का प्राण है, धर्म का मूल है धर्म का वास्तविक रहस्य है। अतः उत्कृष्ट धर्म की गणना के प्रसंग पर नाम उसका दिया गया है। "धम्मोमंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।"

श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि —

तेसिं अच्छणजोएण, निच्च होयव्वय सिया।
मणसा काय-वक्केण एव हवई संजए॥

वही संयमी जीवन है कि मन, वचन और काया, इन तीनों योगों से किसी भी योग द्वारा किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।

श्री सूत्रकृताग में कहा है कि —

एवं खु नाणिणो सार, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समय चेव, एयावन्त वियाणिया॥

ज्ञानियों के वचनों का सार यही है कि किसी भा प्राणी की हिंसा न की जाय और अहिंसा को ही शाश्वत धर्म माना जाय।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि —

नाइवाएज्ज किंचण—श्रमणों को किसी भी प्राणी की हिंसा

करना नहीं चाहिए। **मेत्ति भूएसु कप्पये** उन्हें सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए।

अन्य धर्मों में भी अहिंसा का उपदेश दिया गया है। परन्तु वह इतना सूक्ष्म व विशद नहीं है।

द्वितीय महाव्रत का पाठ

अहावरे दुच्चे भन्ते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते! मुसावायं पच्चक्खामि। से कोहा वा लोहा वा भया वा, हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करन्त पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि॥

दुच्चे भन्ते! उवट्ठिओ मि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं॥ २॥

हे भदन्त! असत्य बोलने से विमुख होना वह दूसरा महाव्रत है (ऐसा मैं समझ पाया हूँ,) हे भदन्त! सर्वप्रकार की असत्य वाणियों का मैं त्याग करता हूँ। क्रोध, लोभ या भय से या हँसने में मैं स्वयं असत्य न बोलूँगा, दूसरों से बुलवाऊँगा नहीं या असत्य बोलनेवाले का समर्थन नहीं करूँगा। जबतक जीवित रहूँगा, तबतक मैं असत्य बोलूँगा नहीं, बुलवाऊँगा नहीं और असत्य बोलनेवाले का समर्थन न करूँगा। हे भदन्त! भूतकाल में बोले गए असत्य वचनों से मैं वापस आता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ उसकी गर्हा करता हूँ और असत्य बोलनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त । सर्व प्रकार से असत्य बोलने से मैं अलग हो कर द्वितीय महाव्रत में स्थिर होता हूँ ।

श्री दशवैकालिक सूत्रमें कहा है कि –

मुसावायाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाण, तम्हा मोसं विवज्जए ॥

संसार के सर्व प्रकार के साधु-पुरुषों ने मृषावाद असत्य की निंदा की है। असत्य सर्व प्राणियों के लिए अविश्वनीय है अर्थात् असत्य से सभी प्राणियों का विश्वास हट जाता है । अतः उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

तृतीय महाव्रत का पाठ

महावरे तच्चे भंते ' महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं ' सव्वं भंते ' अदिन्नादाणं पच्चक्खामि । से गामं वा, नगरं वा, रण्णं वा, अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

तच्चे भन्ते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

हे भदन्त ' मालिक द्वारा न दी गई हो ऐसी किसी चीज को लेने से इनकार करना यह तीसरा महाव्रत है । हे भन्ते ' मैं सर्व प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूँ । गांव, नगर या अरण्य में थोड़ा,

बहुत, छोटा, बड़ा, सजीव या निर्जीव, कुछ भी मालिक द्वारा न दिया गया हो, उसको मैं स्वयं ग्रहण करूँगा नहीं, दूसरों से ग्रहण कराऊँगा नहीं तथा ग्रहण करने वाले को अनुमति भी दूँगा नहीं। मैं जबतक जीवित हूँ, तबतक मन, वचन और काया से स्वयं चोरी करूँगा नहीं तथा दूसरों से करवाऊँगा नहीं तथा करने वाले को अच्छा मानूँगा नहीं। हे भदन्त! भूतकाल में जो कुछ चोरियाँ की गई हैं, उनसे वापस लौटता हूँ, उनकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और उस चोरी करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त! सर्व प्रकार के अदत्तादान से विमुख हो कर मैं तीसरे महाव्रत में स्थिर होता हूँ।

श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि —

अदत्तादाण अकित्तिकरण अणज्ज साहुगरहणिज्ज।
पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारक रोगदोसबहुल॥

अदत्तादान अपयश करनेवाला अनार्य कर्म है, और उसकी सभी संतों द्वारा निंदा की गई है। वह प्रियजन, मित्रजन में भेद तथा अप्रतीति को उत्पन्न करनेवाला और रागद्वेष से भरा हुआ है।

हरदहमरणभयकलुसतासण परसतिगऽभेज्ज लोभमूल।
उप्पूरसमरसगामडमर कलि कलहवेह करण॥

चौर्य कार्य दूसरों के हृदयों को दग्ध करता है। वह मृत्यु, भय और त्रास उत्पन्न करता है परधन में गृद्धि (आसक्ति) का हेतु तथा लोभ का मूल है। बडे-बडे समर--संग्राम डमर--स्वचक्र--परचक्र, भय, कलह, वेध, पश्चाताप आदि का हेतु है।

इसा कारण जैन–श्रमण दातो के लिए उपयोग में आनेवाली सली तक को बिना मालिक द्वारा दिए, लते नहीं हैं।

चतुर्थ महाव्रत का पाठ

अहावरे चउत्थे भन्ते। महव्वए मेहुणाओ वेरमण। सव्व भन्ते! मेहुण पच्चक्खामि! से दिव्व वा, माणुम वा, तिरिक्खजोणिय वा, नेव सय मेहुण सेविज्जा, नेवऽन्नेहि मेहुण सेवाविज्जा मेहुण सेवन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करतपि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।

चउत्थे भन्ते। महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमण ॥ ४ ॥

हे भदन्त! मैथुन से विरक्त होना यह चौथा महाव्रत है (ऐसा मैं समझा हूँ।) अब हे भदन्त! सर्व प्रकार के मैथुन का त्याग करता हूँ। दैवी, मानुषी या पाशविक, किसी भी प्रकार के मैथुन का मैं सेवन करूँगा नहीं, दूसरों से सेवन कराऊँगा नहीं तथा कोई सेवन करता होगा तो उसे अच्छा मानूँगा नहीं। हे भन्त! भूतकाल में किए गए मैथुन से वापस आता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ। गर्हा करता हूँ और उस मैथुन करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदन्त! सर्व प्रकार के मैथुन म से निवृत्त होकर मैं चतुर्थ महाव्रत में स्थिर होता हूँ।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि —

विनय-सील-तव-नियम-गुणसमूहे त बभ भगवंत।
गहगण-नक्खत्त-तारगणे वा जहा उडुपत्ती ॥

जैसे ग्रहगण, नक्षत्रगण और तारागण मे चद्र प्रधान है। वैसे विनय, शील, तप, नियम इत्यादि गुणसमूह मे ब्रह्मचर्य प्रधान है।

तम्हा निहुणण बभचेर चरियव्व सव्वओ।
विसुद्ध जावज्जीवाए, जाव सेयट्ठि सजउत्ति ॥

अत जबतक जीवन जारी रहे और जबतक शरीर में रक्त और मास रहे, तबतक सपूर्ण विशुद्धता पूर्वक निश्चित रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य का विशुद्धरूप स पालन हो, इसलिए जैन-श्रमण नीचे लिखे नौ नियमो का पालन करते है।

(१) स्त्री, पुरुष और नपुसक की आवादी स रहित एकात विशुद्ध स्थान में वास करते है।

(२) कामुक कथाएँ (काम वासनाओं को उकसाने वाली स्त्री सम्बन्धी कथाएँ) कहते नहीं है।

(३) जिस पाट, आसन या शयन इत्यादि पर स्त्री बैठी हो, उस को दो घटियों तक उपयोग करते नहीं हैं।

(४) राग को वश होकर स्त्रियों के अगोपाग को देखते नहीं हैं।

(५) जिस दीवार के अन्दर स्त्री-पुरुष का जोडा रहता हो, ऐसे स्थान का त्याग करते हैं।

(६) स्त्री के साथ की जाती पूर्वक्रीडा का स्मरण करते नहीं है।

(७) मादक आहार का त्याग करते हैं और यथासंभव तपश्चर्या करते हैं।

(८) आवश्यकता से अधिक आहार करते नहीं हैं।

(९) शृंगार अथवा शरीर की शोभा का त्याग करते हैं अर्थात् स्नान, विलेपन, सुवास, (शरीर पर सुगन्धित पदार्थ का मलना) उत्तम वस्त्र, तैल, तम्बोल सेन्ट लवंडर इत्यादि का उपयोग करते नहीं हैं।

इसके उपरान्त शब्द रूप रस, गंध, और स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय में आसक्त रहते नहीं है।

अन्य साधु—संन्यासी स्त्रियों को—कुमारिकाओं को अपने चरणों का स्पर्श करने देते हैं और स्वयं उनके सिर पर हाथ भी रखते हैं। जब जैन—श्रमण किसी भी परिस्थिति में स्त्री का स्पर्श करते नहीं हैं। इसके बारे में दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि—

हत्थपायपडिच्छिन्नं कन्ननासविगप्पिअं ।
अवि वाससयं नारिं बंभचारी विवज्जए॥

जिसके हाथ, पैर छेदे हुए हैं तथा जिसके नाक—कान काटे हुए हैं, *वैसी स्त्री यदि सौ वर्ष की बूढ़ी हो तो भी साधु को उसे न देखना,* न स्पर्श करना चाहिए।

जैन श्रमणों की वस्ती में सायंकाल के बाद स्त्रियों के प्रवेश के लिए मनाई है। तथा श्रमणियों की वस्ती में पुरुष प्रवेश नहीं कर सकते।

पांचवें महाव्रत का पाठ

अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि। से अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं

वा अचित्तमत वा, नेव सय परिग्गह परिगिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गाह परिगिण्हन्ते वि अन्न न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करतपि अन्न न समणु जाणामि, तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।

पञ्चमे भन्ते ! महव्वये उवट्ठिओ मि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥ ५ ॥

हे भदन्त ! परिग्रह के सम्बन्ध से विमुख होना, वह पाचवाँ महाव्रत है (ऐसा मैं समझा हूँ) अब हे भदन्त ! सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूँ। थोडा-बहुत छोटा, बडा, सजीव या निर्जीव किसी का भी मैं स्वय परिग्रह करूँगा नहीं, दूसरों के पास कराऊँगा नहीं तथा परिग्रह करनेवाले को अच्छा मानूँगा नहीं। मृत्यु तक मन, वचन और काया, इन तीनों से मैं स्वय परिग्रह करूँगा नहीं, कराऊँगा नहीं या दूसरे का समर्थन करूँगा नहीं। हे भदन्त ! भूतकाल में किए गए परिग्रह से मैं वापस आता हूँ और उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ तथा उस परिग्रह करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भन्त ! सर्व प्रकार के परिग्रहों से विमुख हो मैं पाचवें महाव्रत में स्थिर होता हूँ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि —

वित्तेण ताण न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणतमोहे, नेयाउय दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

प्रमत्त मनुष्य धनद्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है या न परलोक में। हाथ में दीप होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने

पर मार्ग नहीं दिखाई देता है। वैसे धन के असीम मोह से मूढ़–मनुष्य न्यायमार्ग देखने पर भी, उस मार्ग पर चल सकता नहीं है।

कसिण पि जो इम लोय पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स।
तेणाऽवि से न सतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

धन–धान्य से पूर्ण यह सारा लोक यदि किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय, तो भी उसे संतोष न होगा। ऐसा आत्मा की तृष्णा इस प्रकार दुष्पूर अर्थात् दुःख द्वारा पूरी की जा सके ऐसी होता है।

जैन शास्त्रकारों ने तत्त्व से मूर्च्छा–ममत्व को ही परिग्रह माना है। "मूर्च्छा परिग्रहः ॥" अतः 'यह वस्तु मेरी है' या 'मैं उस का हूँ' यह मानना और वर्तन करना, वह मूर्च्छा है। 'मेरा कुछ नहीं है।' और "मैं किसी का नहीं हूँ," इस प्रकार मानना और वर्तन करना वह परिग्रह से विरत होना है। उसे आकिंचन्य भी कहा जाता है। आकिंचन्य अर्थात् अपनी मानी जा सके ऐसी किसी भी वस्तु से रहित होना। साधु चारित्र की रक्षा के लिए साधारण वस्त्र, कुछ काष्ठ के पात्र तथा रजोहरण इत्यादि धर्मोपकरण रखते हैं, उसे परिग्रह नहीं माना जाता। क्योंकि उनपर उनका ममत्व भाव नहीं होता है। यहाँ इस बात को ध्यान में लेना चाहिए कि जैन–श्रमण जूते, चप्पल, या छाता तक रखते नहीं हैं। क्योंकि उन्हें भी एक प्रकार का परिग्रह ही माना गया है।

इस व्रत के कारण जैनश्रमण रुपये, सुवर्णमोहरें या कुछ भी धन रखते ही नहीं हैं। धान्य अर्थात् विभिन्न प्रकार के अनाज का संग्रह करते नहीं है। क्षेत्र अर्थात् जोती गई या नहीं जोती गई जमीन और वस्तु अर्थात्

मदिर, हाट, या हवेली का स्वामित्व रखने नहीं है। हिरण्य अर्थात् सुवर्ण, रौप्य अर्थात् रजत (रुपा) और कुप्य अर्थात् अन्य धातु तथा सामान रखते नहीं हैं। तथा द्विपद याने नौकर–चाकर, दास–दासी और चतुष्पद यानी हाथी, घोडा, ऊँट, बैल, गाय, भैंस, बकरी इत्यादि जानवरों का स्वामित्व रखते नहीं है।

जैन–श्रमणों को पाचों महाव्रतों के साथ छठा रात्रिभोजन विरमण –व्रत भी अवश्य लेने का होता है। इसलिए नीचे लिखा पाठ बोला जाता है।

रात्रिभोजन–विरमण व्रत का पाठ

अहावरे छट्ठे भंते! वए राइभोअणाओ वेरमण। सव्वं भंते! राइभोयण पच्चक्खामि। से असण वा, पाण वा, खाइम वा, साइम वा, नेव सय राइ भुजिज्जा, नवऽन्नेहिं राइ भुजाविज्जा, राइ भुजतऽवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करतंपि अन्न न समणुजाणामि तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि॥

छट्ठे भन्ते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोअणाओ वेरमण॥६॥

इच्चेयाइ पच महव्वयाइ राइभोअण–वेरमणछट्ठाइ अत्तहियट्ठयाए उवसपज्जित्ता ण विहरामि॥

हे भदन्त! रात्रि भोजन छोडना वह छठा महाव्रत है। (ऐसा मैं समझा हूँ। अब) हे भन्न्त! मैं सर्व प्रकार के रात्रि–भोजन का त्याग करता हूँ। अशन, पान, खादिम और स्वादिम, इन चार प्रकार के आहारों में से कुछ भी रात को खाऊँगा नहीं, दूसरे को खिलाऊँगा

नहीं तथा अन्य कोई खाता होगा तो, उसको अनुमति न दूँगा। मैं जावित रहूँगा तबतक मन, वचन और काया, इन तीनों से मैं रात्रि-भोजन न करूँगा, दूसरे से कराऊँगा नहीं या कोई करता होगा तो उसे अनुमति न दूँगा। हे भन्ते! भूतकाल में किए गए रात्रिभोजन से मैं वापस आता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और रात्रिभोजन करनेवाली मेरी आत्मा का त्याग करता हूँ।

हे भदंत! सब प्रकार के रात्रि भोजन से विमुख होकर मैं छठे व्रत में स्थिर होता हूँ। इस प्रकार ये पाँच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत, इन सब को आत्महित के लिए स्वीकार करके मैं विहार करता हूँ।

रात्रिभोजन अर्थात् सायंकाल से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक कुछ भी खाना नहीं, उसका कारण है अहिंसा का मूल सिद्धांत। इसलिए श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि —

सन्तिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा।
जाइ राओ अपासन्तो कहमेसणियं चरे ॥ १ ॥

धरती पर कई त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव निश्चितरूप से होते हैं, उन जीवों के शरीर रात को दिखाई देते नहीं हैं। तो ईर्यासमिति-पूर्वक रात को गमन कैसे हो सके? अर्थात् गोचरी लेने के लिए जाया जा सकता नहीं है।

उदओल्लं बीयसंसत्तं पाणा निव्वडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जेज्जा राओ तत्थ कहं चरे ? ॥

पानी के कारण धरती भीगी रहती है। धरती पर बीज पड़े हुए होते हैं, चींटी-कीड़ा आदि जीव पड़े हुए हों, उन जीवों की हिंसा से बचना जब दिवस को भी मुश्किल होता है, तब रातको तो कैसे बचा जाय? अतः रात को कैसे चला जाय?

एय च दोस दट्ठूण नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुञ्जन्ति निग्गंठा राइभोयणं॥

इन दोषों को देखकर ज्ञातपुत्र यानी श्रमण-भगवान् महावीर ने कहा है कि निर्ग्रंथ सर्व प्रकार के आहारों का रात को भोग न करें।

जैन श्रमणों को रात को भोजन करना ही होता नहीं है तथा दूसरे दिन के लिए भी किसी प्रकार का संग्रह करना भी नहीं होता है। अतः सायंकाल पूर्व उनके सब पात्र स्वच्छ हो जाते हैं।

इस प्रकार पाँच महाव्रतों को तथा छट्ठे रात्रिभोजन-विरमण-व्रत को ग्रहण करना, यह साधु के मूल गुण है। अतः वे मन, वचन और काया से उन व्रतों का पालन करते हैं। फिर भी यदि कोई दोष भूल से भी हो जाता है तो वे प्रातः तथा सायं प्रतिक्रमण के समय उसकी आलोचना करके तथा उसके लिए उचित प्रायश्चित करके शुद्ध बनते हैं।

११ :
चारित्र-निर्माण

जैन श्रमण अपने चारित्र निर्माण के लिए जो जो प्रवृत्तियाँ करते हैं, उन में समिति तथा गुप्ति की प्रवृत्तियां मुख्य हैं। इसलिए उनके बारे में यहाँ कुछ विवेचन करते हैं।

समिति शब्द का मूल अर्थ अच्छी क्रिया होता है। परन्तु परिभाषा से जो क्रिया चारित्र के निर्वाह के लिए सावधान हो कर की जाय, उसे ही समिति कहा जाता है।

गुप्ति शब्द का मूल अर्थ गोपन क्रिया अर्थात् रक्षण की क्रिया होता है। परन्तु परिभाषा में मन, वचन और काया के अशुभ व्यापारों को रोकने के लिए जो क्रिया की जाती है, उसे ही गुप्ति कहा जाता है।

समितियाँ पाँच है –(१) इर्या समिति, (२) भाषा समिति, (३) एषणा समिति, (४) आदान-निक्षेप समिति और (५) पारिष्ठापनिका समिति।

गुप्तियाँ तीन है-(१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति।

इन आठ क्रियाओं को अष्ट प्रवचन माता कहा जाता है। क्यों कि उन महाव्रतों स्वरूप प्रवचन को पालन करने में तथा उसकी रक्षा करने में माता जैसा काम करती है।

यहाँ किसी के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि पाँच महाव्रतों को प्रवचन क्यों कहा जाता है? उसका स्पष्टता यह है कि श्री जिनेश्वर देवों के सकल प्रवचनों का रहस्य पांच महाव्रत हैं। अतः उपचार से उन्हें प्रवचन कहा गया है।

जिनागमों में इन क्रियाओं की बहुत प्रशंसा की गई है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि –

एयाओ पञ्च समिइओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥

एसा पवयणमाया, जे सम्म आयरे मुणी ।
खिप्प सव्व ससारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥

ये पाँचों समितियाँ चारित्र के लिये की जाती प्रवृत्तियों के लिए उपयोगी हैं और तीन गुप्तियाँ अशुभ व्यापारों से निवृत्त होने के लिए उपयोगी है। इस प्रकार इन आठ प्रवचन माताओं को, जो बुद्धिमान मुनि अच्छी तरह आचार में रखते है, वे शीघ्र सर्व ससार से मुक्त होते है।

जैन श्रमण इन क्रियाओं का पालन किस प्रकार करते है, उन्हें हम क्रमश देखेंगे।

ईर्यासमिति

ईर्यासमिति का पालन करने के लिए जैन–श्रमण निम्न छ नियमों का अनुसरण करते हैं।

(१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र के हेतु से चलते है, अन्य हेतु से नहीं।

(२) दिवस के समय दरम्यान चलते है रात को नहीं।

(३) अच्छे आवागमन वाले मार्ग पर चलते है। परन्तु नया मार्ग कि जहा सजीव मिट्टी आदिका सभव हो वहा चलते नहीं है।

(४) ठीक देख कर चलते हैं, बिना देखे नहीं।

(५) नजर को नीचे रखकर चार हाथ भूमि का अवलोकन करते हैं, नजर को ऊँचा रखकर या इधर–उधर देखकर चलते नहीं है।

(६) उपयोग (ख्याल)पूर्वक ही चलते है, बिना उपयोग चलते नहीं हैं।

प्रश्न —क्या श्रमण किसी वाहन का उपयोग करते हैं?

उत्तर —नहीं, क्योंकि वाहन का उपयोग करने से ईर्यासमिति के चौथे, पाँचवे और छठे नियम का अनादर होता है।

जैन श्रमण अहिंसादि पंचमहाव्रतमय संयमजीवन का पालन तथा धर्म
प्रचार के लिए गाँव गाँव पैदल विहार कर रहे हैं। उनके साथ साधुजीवन
के लिए आवश्यक पोथी पात्र, कम्बल आदि सामग्री बँधी हुई है।

प्रश्न —कोई आवश्यक कार्य हो तो श्रमण रात्रि को विहार कर सकते है?

उत्तर —नहीं, क्योंकि श्रमणों के लिए आवश्यक काम संयम का पालन है। अत रात्रि को विहार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथा ऐसा करने से ईर्यासमिति के सभी नियमों का अनादर होता है।

प्रश्न —चलते समय ठीक ठीक ध्यान रखने पर भी कोई जीव पैरों तले कुचल जाय, तो श्रमण को क्या करना चाहिए?

उत्तर —यदि श्रमण को पता चले कि चलते समय अपने पैरों के नीचे कोई जीव कुचल गया है, तो उसके लिए वे अत्यंत दुःख व्यक्त कर तथा गुरु के पास प्रायश्चित करें।

प्रश्न —देहचिंता के लिए यदि श्रमण को रात्रि के समय बस्ती से बाहर जाना आवश्यक हो तो क्या करे?

उत्तर —श्रमणों के जीवन का निर्माण ही इस प्रकार होता है कि उन्हें यथासंभव रात्रि को देहचिंता होती ही नहीं है। फिर भी अनिवार्य कारणों को लेकर ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो तो वे रजोहरण से भूमि की प्रमार्जना कर के ही कदम रखे।

भाषासमिति

भाषासमिति का पालन करने के लिए जैन श्रमण निम्न-लिखित नियमों का पालन करते हैं।

(१) क्रोध से बोलते नहीं हैं।

(२) अभिमान पूर्वक बोलते नहीं है।

(३) क्रोध से बोलते नहीं है।

(४) लोभ से बोलते नहीं है।

(५) हास्य से बोलते नहीं है।

(६) भय से बोलते नहीं है।

(७) वाक्चातुरी से बोलते नहीं हैं। तथा

(८) विकथा करते नहीं है। यहाँ विकथा शब्द से स्त्रीकथा भक्तकथा, देशकथा और राजकथा समझना है। स्त्री कथा अर्थात् स्त्रिया के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो ऐसा स्वाभाविक वार्तालाप भक्तकथा यानी भोजन के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो ऐसा वार्तालाप देशकथा यानी लोगो के विभिन्न रिवाजों और व्यवहारों के प्रति दिलचस्पी पैदा हो ऐसा वार्तालाप और राजकथा अर्थात राजाओं के वैभव–विलास के प्रति दिलचस्पी पैदा हो ऐसा वार्तालाप।

जैन–श्रमण भाषा समिति का पालन करने के लिए अति कठोर भाषा का उपयोग करते नहीं है। इसलिए श्री दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि —

तहेव काणं काणत्ति, पडगं पडगत्ति वा।
वाहिअं वा विरोगित्ति, तेण चोरेत्ति नो वए॥

उसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुसक व्याधि–ग्रस्त को रोगी तथा चोर को चोर कहना नहीं चाहिए। उसे भी सुन्दर शब्दों द्वारा ही बुलाना चाहिए। इसी कारण जैन श्रमण किसी को बुलाते समय "महानुभाव" 'महाशय" "देवानुप्रिय", इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते है।

जैन श्रमण भाषासमिति का पालन करते हुए पापकारी भाषा का कभी उपयोग करते नहीं हैं। जैसे कि उद्यान, पर्वत या वन में बड़े वृक्षों को देखकर कहना कि—'ये वृक्ष खंभे किए जा सकें ऐसे हैं। ये वृक्ष घर बाँधने के योग्य हैं। उनका आगला किया जा सकता है। ये तोरण बनाने योग्य हैं। यह गेट बनाने योग्य हैं। अथवा उनके पाट बन सकते हैं, —तो वह भाषा सावद्य या पापकारी है। क्योंकि वह वृक्षों के जीवों को पीड़ा पहुँचाने वाली है। ऐसे स्थान पर बोलने की आवश्यकता होगी तो श्रमण बोलेंगे कि, ये वृक्ष लम्बे हैं, गोल हैं, विस्तार वाले हैं, शाखाओं से युक्त हैं, इत्यादि। इसी प्रकार फल को देखकर यह कहना कि—ये फल पक गए हैं, पका कर खाने योग्य हैं। ये काटने योग्य हैं तो वह भाषा सावद्य है। उसी स्थान पर आवश्यकता पड़ने पर श्रमण बोलेंगे कि 'ये वृक्ष फलों से झुक गए हैं। इस वृक्ष पर फल बहुत बड़े हो गए हैं अथवा इस वृक्ष के फल अपने रंग में आ गए हैं।' उसी प्रकार खेत में धान्य देखकर कहना कि 'यह धान्य काटने योग्य हो गया है। यह सेंकने योग्य हो गया है,' तो वह सावद्य भाषा है। ऐसे स्थान पर यदि आवश्यक होगा तो श्रमण ऐसा कहेंगे कि 'इस धान्य को बहुत समय हो गया है। यह फसल स्थिर हुई है,' इत्यादि। उसी प्रकार नदी को देख कर यह कहना कि नदी तैर कर पार करने जैसी है या तट पर पशु पानी पी सकें ऐसी है' तो वह सावद्य भाषा है। उसी स्थान पर यदि बोलने की आवश्यकता पड़ेगी तो श्रमण कहेंगे कि 'यह नदी अधिक प्रमाण में भरपूर है। अधिक गहरी है या बहुत विस्तार वाली है।' उसी प्रकार जानवरों को देखकर

कहना कि 'वे अधिक मासवाले हैं मेदसम्पन्न हैं, काटने योग्य हैं, पकाने योग्य हैं अथवा ये गायें दुहने योग्य है ये बछड़े नथने योग्य है।' तो वह भाषा सावद्य भाषा है। ऐसे स्थान पर यदि बोलना आवश्यक होगा तो श्रमणों को इस प्रकार बोलना चाहिए कि 'यह जानवर बड़ा हुआ है, उम्रलायक हुआ है,' इत्यादि।

जैन श्रमण सावद्य भाषा का परिहार करने के लिए नीचे लिखे वाक्यों का कभी प्रयोग नहीं करते हैं। 'बहुत अच्छा पकाया, खूब काटा, खूब ले गया, निकुल मर गया, ठीक पूरा हुआ, इसे बेचना नहीं, इसे खरीद करो, इसे खरीदना नहीं, आओ, आना, बैठो, करो, सोओ, खड़े रहो, खाओ, पीओ, तुम्हारी जय हो, तुम्हारा पराजय हो,' इत्यादि। क्योंकि इससे उसमें पाप का अनुमोदन रहा हुआ है। संक्षेप में जिन शब्दों से पापकारी प्रवृत्तियों का भाव व्यक्त होता हो या समर्थन होता हो, ऐसा बोलना वह सावद्य भाषा है। केवल वर्णन के रूप में प्रतिपादन के रूप में मध्यस्थ वृत्तिवाला बोलना वह निरवद्य भाषा है।

फिर जैन श्रमण भाषा समिति का पालन करने के लिए निश्चयकारी भाषा बोलते नहीं हैं। क्योंकि उसमें झूठा पड़ने की संभावना रही हुई है। उदाहरण स्वरूप किसी काम के बारे में बातें चल रही हो, और ऐसा कहना कि 'यह काम अवश्य होगा ही। मैं अवश्य करूँगा, वह अवश्य करेगा,' वह भाषा निश्चयकारी भाषा है। अतः जैन-श्रमण इस प्रकार नहीं बोलेंगे। वहाँ बोलने की आवश्यकता पड़ेगी तो वे ऐसा कहेंगे कि यह काम होने की संभावना है। यथासंभव मैं

करूँगा। यथा शक्य वह कर सकेगा,' इत्यादि। ऐसी भाषा को सापेक्ष भाषा कहा जाता है।

तदुपरान्त जैन श्रमण भाषासमिति का पालन करने के लिए बिना प्रयोजन बोलते नहीं हैं। और प्रयोजन पर आवश्यकतानुसार बोलते हैं अर्थात् उनका वाणी–व्यवहार परिमित होता है।

जैन–शास्त्रों में सत्य बोलने का अर्थ होता है कि प्रिय बोलना, पथ्य बोलना और तथ्य बोलना। अतः जैन श्रमण मधुर वाणी का प्रयोग करते हैं। हितकारी ही बोलते हैं, और जो चीज जिस प्रकार की हो, उसी रूप में उसे कहते हैं।

एषणा समिति

एषणासमिति का विवेचन करने के पहले एषणा किसे कहा जाता है उसकी स्पष्टता करेंगे। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि —

गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणाय ए।
आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए॥

आहार, उपधि तथा शय्या इन तीन वस्तुओं की गवेषणा, ग्रहण और परिभोग के बारे में पूरी पूरी शुद्धता रखना वह एषणा है।

आहार के चार प्रकार हैं,—अशन, पान, खादिम और स्वादिम उसमें प्रयोजन के अनुरूप ग्रहण किए जानेवाले औषध का भी समावेश होता है। उपधि का अर्थ है वस्त्र, पात्र इत्यादि साथ में रखी जानेवाली वस्तुएँ। तथा शय्या में आते हैं पाट, और ठहरने का स्थान। जैन–श्रमण इन चीजों को ढूंढकर ही प्राप्त करते हैं। अतः इसलिए सचित्त, भोजन

शाला, अमूक गृहस्थ के यहाँ वास करना इत्यादि किसी नियत—व्यवस्था को स्वीकार न करते हुए भिक्षाचरी करते हैं और उस समय नीचे लिखे नियमों का पालन करते हैं।

(१) जो आहार या चीज श्रमण के लिए ही बनाई गई हो उसे लेते नहीं हैं।

(२) जिस आहार या चीज श्रमण का उद्देश रख कर तैयार की गई हो, उसे लेते नहीं हैं।

(३) जो आहार अकल्प्य के संसर्ग में आया हो, उसे लेते नहीं है। पिंडनिर्युक्ति में उसे अध्यवपूरक नामक दोष बताया गया है।

(४) जो आहार या वस्तु अपने परिवार तथा श्रमणों को लक्ष में रखकर बनाई हो उसे लेते नहीं है।

(५) जो आहार या चीज श्रमणों के लिए कुछ समय से रखी हुई हो, उसे लेते नहीं हैं।

(६) जो आहार या चीज विशेष करके दान के लिए तैयार की गई हो, उसे लेते नहीं हैं।

(७) जो आहार या चीज अंधेरे में पड़ी हो, और उसे देने के लिए विशेष करके दीप प्रकट किया जाय या अन्य किसी प्रकार प्रकाश किया जाय तो उसे लेते नहीं है।

(८–१२) जो आहार या चीज श्रमणों को देने के लिए विशेष कीमत दे कर खरीद कर गई हो, उधार ली गई हो, विनिमय करके लाई गई हो, दूसरे के पास से हड़प ली गई हो, उसे श्रमण लेते नहीं हैं।

(१३) जिस आहार या चीज को सामने से लाया गया हो, उसे लेत नहीं है।

(१४) जो आहार या चीज सिगाड खोलकर या मजले से उतार कर लाया गया हो, उसे लेत नहीं है।

(१५) जो आहार या चाज माझीदार की अनुमति के बिना ली जाय तो उसे लेते नहीं है।

(१६) जो आहार या चीज श्रमण के आगमन का पता पाकर अधिक पानी वगैरह डालकर बनाए गए हो, तो उसे लेत नहीं है। जैन श्रमण निम्नानुसार या नाच लिखी परिस्थिति में किसी भी प्रकार का आहार या वस्तु ग्रहण करते नहीं है।

(१७) बालक को खेल खिलाकर।

(१८) दूती की तरह सगे-सम्बन्धियो के समाचार कह कर।

(१९) निमित्त-ज्योतिष्य कहकर।

(२०) ज्ञाति या जाति बताकर, जैसे कि मै अमुक ज्ञाति या जाति का हूँ या ममार पक्ष से हम अमुक सगे होते है।

(२१) निर्धनता दीनता बताकर, जैसे कि आप नहीं देंगे तो हमें और कौन देगा?

(२२) दया करके। (२३) क्रोध करके।

(२४) अहकार करके। (२५) छल करके।

(२६) लोभ करके। (२७) गुणों का गान करके।

(२८) विद्या, कामण या वशीकरण करके।

(२९) मत्र क्रिया करके अर्थात् मत्र-तत्र द्वारा।

(३०) गोली, चूर्ण आदि के नुस्खे बताकर।
(३१) सौभाग्य–दुर्भाग्य बताकर
(३२) गर्भ पडा करके।
(३३) जिसकी निर्दोषता की पूरी प्रतीति न हुई हो।
(३४) हाथ सचित्त (सजीव) वस्तु से बिगडा हुआ हो और आहार या वस्तु दी जाय।
(३५) आहार या चीज किसी सचित्त पदार्थ पर रखी गई हो।
(३६) आहार या चीज पर कोई सचित्त पदार्थ रखा गया हो।
(३७) आहार या चीज सचित्त से स्पर्श करती हो।
(३८) दाता अंध या पंगु हो। क्योंकि वह हलन–चलन करके वहोराएगा तो अयतना होने की संभावना है।
(३९) वस्तु पूरी पूरी अचित्त (निर्जीव) न हुई हो अर्थात् कच्ची–पक्की
(४०) सचित्त और अचित्त वस्तु एक साथ मिली हो।
(४१) कोई अयतना से वहोराता हो।
(४२) तुरन्त के लीप पोते आंगन पर से चलकर आया हो।

प्रश्न —श्रमण भिक्षा मांगने के लिए कहाँ कहाँ जाते है ?

उत्तर ——श्रमण भिक्षा लेने के लिए क्षत्रिय, ग्वाल, वैश्य, कृषिकार आदि अ–तिरस्कृत तथा अनिंदित कुलों मे जाते है। परंतु चक्रवर्ती, राजा, ठाकोर, राजा के पारावान और राजा के सगे सम्बंधियों के यहाँ नहीं जाते, चाहे वे नगर में रहते हों, बाहर अपना डेरा डाला हो या मार्ग पर प्रयाण करते हों। निमंत्रण मिला हो या न मिला हो। जिस घर में हमेशा अन्न–पान दिया जाता हो या शुरू में

देवों के लिए अग्रिपिंड अलग निकाला जाता हो और उसी कारण जहाँ कई याचक एकत्र होते हों, वहाँ भी श्रमण भिक्षा लेने के लिए जाना पसंद नहीं करते।

प्रश्न—श्रमण किसी गृहस्थ के बंद द्वार को खोलकर भीतर जा सकते हैं?

उत्तर—नहीं वे इस प्रकार नहीं जा सकते हैं। श्री दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि 'कवाड नो पणोल्लेज्जा' श्रमणों को किवाड खोलना नहीं चाहिए। ऐसा करने से उसके नीचे रहे हुए सूक्ष्म जीव–जंतु की विराधना होती है और सम्भवतः घरमालिक की अकृपा भी सहनी पड़ती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करना, वह साधु के लिए उचित नहीं है।

प्रश्न—श्रमण भिक्षा के लिए जहाँ जाते हैं, वहाँ क्या वे बैठ सकते हैं?

उत्तर—नहीं, भिक्षा के लिए जाने वाले श्रमण के लिए यह उचित नहीं है। ऐसा करने से गृहस्थ को एक तरह की मुश्किल होगी तथा संकोच होने की संभावना है या कोई समय सन्देह भी हो सकता है। इस के उपरान्त अन्य दोष भी होने की संभावना रहती है। इसीलिए श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि—

गोयरग्गपविट्ठो उ न निसीएज्ज कत्थई।

गोचरी के लिए प्रवेश करने वाले श्रमण को कहीं बैठना नहीं चाहिए।

प्रश्न —श्रमण भिक्षा के लिए जाय, उस समय यदि वहाँ अन्य कई भिक्षुक खड़े हों तो क्या किया जाय ?

उत्तर —श्रमण ऐसे भिक्षुकों को पार करके किसी घरमें प्रवेश न करें। क्योंकि इससे उनको दुःख होगी तथा उनके मनमें सन्देह होगा कि अब हमें भिक्षा मिलगी या नहीं? किसी के मनमें इतने समय के लिए भी क्लेश न हो इस लिए जैन-श्रमण इन नियमों का बराबर पालन करते है।

प्रश्न —वर्षा होती हो, उस समय श्रमण गोचरी के लिए जा सकते हैं ?

उत्तर —न जाय। इस लिए श्री दशवैकालिक सूत्र में बताया है कि

न चरेज्ज वासे वासन्ते महियाए व पडन्तिए।
महावाए व वायन्ते तिरिच्छ-सम्पाइमेसु वा ॥

वर्षा होती हो, कुहरा पड रहा हो, महावायु चल रहा हो या सूक्ष्म जंतु उड रहे हों, उस समय श्रमणों को भिक्षा के लिए न जाना चाहिए।

प्रश्न —वर्षा लगातार होती हो, तो श्रमण क्या करें ?

उत्तर —भिक्षा के लिए बाहर न निकले, और अपने स्थान पर रह कर धर्म-ध्यान और तपश्चर्या करें।

आदान-निक्षेप-समिति

जिस चीज का नित्य उपयोग होता हो, उसको प्रमार्जना करके उपयोग करना चाहिए। उसके आदान-प्रदान यानी लेने-रखने में बड़ा

सावधानी रखनी चाहिए, किसी प्रकार की लापरवाह नहीं करनी चाहिए, यह इस समिति का रहस्य है। अत जैन–श्रमण प्रात काल प्रतिक्रमण करने के बाद मुँहपत्ती, चोलपटा, ऊनीकल्प, सूत के दो कल्प, रजोहरण के भीतर का निषिज्ज, ओघा, सथारा, उत्तरपट्टा और दड–इन ग्यारह चीजो की प्रतिलेखना यानी सूक्ष्म दृष्टि से देखने की क्रिया करते है तथा नियम के तीसरे प्रहर के अत में मुँहपत्ती, चोलपटा, गोच्छा, पात्रप्रेक्षणिका, पात्रबध, पडले, रजस्त्राण, पात्रस्थापन, मात्रक (भिक्षा में चीज देखने आदि का पात्र) पातरा, रजोहरण, ऊनका कल्प और सूत के दो कल्प, इस प्रकार १४ वस्तुओं की प्रतिलेखना करते हैं। तथा दिवस दरम्यान आसन, शय्या, वस्त्र, पात्र, पुस्तक, इत्यादि को लेने–रखने का व्यवहार बहुत सावधानी से करना चाहिए उसे फेंकना या घसीटना नहीं चाहिए।

पारिष्ठापनिका समिति

इस समिति को उच्चार समिति भी कहा जाता है। उसका रहस्य यह है कि मल, मूत्र, श्लेष्म, थूक, कफ या अन्य परिष्ठापन करने योग्य वस्तुएँ जीवजतु रहित, जहाँ हरियाली न हो, ऐसी भूमि म छोडनी चाहिए। धर्मरुचि नामक एक अणगार कडुवी तूबडी का साग परिष्ठापन करने योग्य मालूम होने से एक स्थल को गए और वहाँ साग का एक बिंदु नीचे डालते ही कई जीवों को मरते हुए देखा। अत अपने उदर को ही निरवद्य स्थान मानकर सभी साग को अपने उदर म ही डाल दिया और कुछ ही क्षण म कालधर्म प्राप्त किया। कहने का भावार्थ यह कि जैन श्रमण परिष्ठापन करने योग्य

प्रति भी इतना ध्यान रखते है और आवश्यकता पडने पर अपने प्राण की भी आहुति दे देते हैं।

मनोगुप्ति

सरभ, समारभ और आरभ इन तीन चीजो में मन को जाने न देना, वह मनोगुप्ति है।

प्रश्न —सरभ का क्या अर्थ है?

उत्तर —छ काय जीवका आरभ यानी हिंसा जिसमें होती हो वैसी किसी भी क्रिया का सकल्प करना, वह सरभ है।

प्रश्न —समारभ का तात्पर्य क्या है?

उत्तर —उस सकल्प को कार्यान्वित करने के लिए साधन एकत्र करना, वह समारभ है।

प्रश्न —आरभ क्या है?

उत्तर —उस कार्य का प्रयोग करना, उसे आरभ कहा जाता है।

तात्पर्य कि जैन–श्रमण मनोगुप्ति का पालन करने के लिए कोई भी हिंसक प्रवृत्ति करने की ओर अपने मन को जाने देते नहीं हैं।

वचन–गुप्ति

सरभ, समारभ या आरभ के लिए बोले जाते वचनो को उपयोगपूर्वक रोक रखना, वह वचन–गुप्ति है।

प्रश्न —भाषा समिति और वचन–गुप्ति में क्या अतर है?

उत्तर —भाषा समिति में यह निवचन है कि भाषा किस प्रकार से बोली जाय, जब वचन–गुप्ति में तो सरभादि प्रवृत्ति के विषय में न बोलने का प्रयत्न करना है। और निष्पाप शुभ वचन की प्रवृत्ति करनी है।

काय-गुप्ति

खडे रहने में, सोने में, गड्ढे को पार करने में तथा पाचों इन्द्रियों के व्यापार में काया को सावद्य योग में जाने नहीं देना वह कायगुप्ति है।

इन तीनों गुप्तियों की आराधना के लिए कायोत्सर्ग उत्तम साधन है। अत जैन श्रमण जब भी अनुकूलता होती है, तब कायोत्सर्ग करते हैं।

प्रश्न —कायोत्सर्ग किसे कहा जाता है?

उत्तर —कायोत्सर्ग का सामान्य अर्थ तो काया का उत्सर्ग यानी काय-व्यापार का त्याग करना होता है। परन्तु परिभाषा द्वारा काया को एक जगह स्थापित करके, वाणी को मौन करके तथा मनको ध्यान में लगाकर स्थिर खडे रहना, स्थिर बैठना, उसे कायोत्सर्ग कहा जाता है। यह एक प्रकार की ध्यानावस्था है कि जिसकी नित्य-नियमित अमुक समय तक आराधना करने से देह की जडता नष्ट होती है, मति की शुद्धि होती है, सुख-दुःख सहने की शक्ति आती है, सूक्ष्म चिंतन करने की योग्यता प्रकट होती है तथा कर्म-समूह झड जाता है।

इस प्रकार जैन-श्रमण पाच समितियों तथा तीन गुप्तियों के पालन से अपने चारित्र को चारु बनाते है और उसके द्वारा कर्म का क्षय करके अभीष्ट फल यानी मोक्ष को प्राप्त करते है।

अनिह्नवता:—गुरु और ज्ञान का अपलाप न करना अथात् ज्ञान देने वाले गुरु का, गुरुरूप से इनकार न करना या उन का नाम छीपा कर ऐसे ही अन्य गुरु का नाम न देना। एवम् ज्ञान के बारे में भ॰

जो सुना और पढ़ा हो, उतना ही कहना चाहिए कम या अधिक नहीं। जैन श्रमण इस नियम का बहुत सख्ताइ से पालन करते हैं।

व्यजनशुद्धि अर्थात् सूत्र के पाठ में जो अक्षर हों, उन्हें उसी प्रकार ग्रहण करना, कम या अधिक नहीं। सूत्र के एक भी अक्षर को इधर-उधर करने से काना, मात्रा, अनुस्वार इत्यादि परिवर्तित रूप में ग्रहण करने से उस के अर्थ में बड़ा परिवर्तन हो जाता है। और इस से महान आशातना तथा सर्वज्ञ की आत्मा का अनादर करने का दोष प्राप्त होता है। अत जैन श्रमण गुरु से शास्त्र-पाठ ग्रहण करते समय बहुत ध्यान रखते हैं।

अर्थशुद्धि : अर्थात् सूत्र या शब्द का अर्थ जिस प्रकार होता हो, उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि इससे अनर्थों की परम्परा होती है। इसलिए जैन शास्त्रों में निम्न लिखित उदाहरण दिया गया है --

शुक्तिमती नगरी म कदम्बक नामक उपाध्याय रहते थे। वे अपने पुत्र पर्वत को, राजा के पुत्र वसु को तथा नारद नामक एक विद्यार्थी को शास्त्राध्ययन करात थे। एक समय ये तीनों विद्यार्थी पढ़ाई के बाद मकान के बरडे में सो गए थे। उस समय आकाश मार्ग से गमन करने वाले दो चारण मुनि परस्पर बोले --इन तीन विद्यार्थियों म स एक विद्यार्थी स्वर्ग जायेगा और दो विद्यार्थी नर्क म। उस समय उपाध्यायजी जगते थे। उन को यह वृत्तान्त सुनकर बड़ा खेद हुआ। उन्होंने विचार किया कि "मुझे धिक्कार है कि मैं पढ़ाने वाला होने पर भी मेरे दो शिष्य नर्क मे जायेगे।" बाद में प्रात काल को इन शिष्यों मे से कौन स्वर्ग मे जायेगा

और कौन नर्क में, यह पता लगाने के लिए उन्होंने इन शिष्यों का आटे से बनाया हुआ कुर्कुट लिया और कहा कि "जिस स्थान पर कोई देख न पाये, उस स्थान पर इसे मार डालो। यह सुनकर वसु और पर्वत ने निर्जन प्रदेश में जा कर कुर्कुट को मार डाला, परन्तु नारद ने विचार किया कि यह निर्जन प्रदेश होने पर भी यहाँ मैं देखता हूँ, देव देखते हैं, सिद्ध देखते हैं और ज्ञानी भी देखते हैं। जिस स्थान पर कोई न देखे, ऐसा स्थान तो विश्व में कहीं भी नहीं है। इस में गुरु के अभिप्राय के अर्थ का पता चलता है कि कुर्कुट अवध्य है। और उसने उसे मारा नहीं।

बाद में ये तीनों शिष्य गुरु समीप गए और अपना अपना वृत्तान्त सुनाया। अतः नारद को स्वर्ग का अधिकारी समझ कर अपनी छाती से लगाया और अन्य दोनों को उपालम्भ दिया। बाद में वैराग्य से वासित हो, प्रव्रज्या ग्रहण की और उन के स्थान पर उन का पुत्र पर्वत आया तथा राजा ने भी दीक्षा ली तो उस के स्थान पर उस का पुत्र वसु सिंहासन पर आया। यह वसु सत्यवादी के रूप में विख्यात होने के लिए सत्य ही बोलता था।

एक समय उसे किसी शिकारी द्वारा स्फटिक मणि की एक बड़ी शिला का पता चला। उसने उसे प्राप्त किया। उस की एक आसन वेदिका बनवाई और उस बनाने वाले शिल्पियों को उसने मार डाला। बाद में उस आसन-वेदिका को सिंहासन के नीचे रख कर वह सत्यवादी होने के कारण अपना सिंहासन आकाश में निराधार रहता है, ऐसी ख्याति सर्वत्र फैला दी। उस ख्याति को लेकर कई राजाओं ने उसे देव-कृपा से अधिष्ठित समझ कर उस की शरण को स्वीकार किया।

अब एक समय पर्वत उपाध्याय अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे, उस वक्त उन्होंने "अजैर्यष्टव्यम्" ऋग्वेद की इस श्रुति का अर्थ अज यानी बकरे का यज्ञ करना, इस प्रकार किया। यह सुनकर उस से मिलने के लिए आये हुए उसके मित्र नारद बोले कि "हे भाई! तू ऐसा अर्थ न कर, क्योंकि जो बोने पर भी उगता नहीं है, उसे 'अज' कहा जाता है। अतः यहाँ 'अज'का अर्थ तीन वर्ष से अधिक समय की डागर (चावल) होता है। हमारे गुरु ने भी ऐसा ही कहा है। अतः धर्मोपदेष्टा गुरु तथा धर्मप्रतिपादक श्रुति का उलटा अर्थ म प्रयोग न कर।"

इस प्रकार बहुत कहने पर भी पर्वत ने आग्रह को न छोड़ा। आखिर उन्होंने वाद करने का निश्चय किया और शर्त की जो पराजित हो उसकी जिह्वा काट दी जाय। बाद में वसु राजा को गवाह बनाकर वाद विवाद शुरू किया। उसमें वसु राजा ने पर्वत की माता के आग्रह से झूठी गवाही दी। और यह घोषणा की गई कि "अज" का अर्थ बकरा होता है। परन्तु धोखा किसी का सगा नहीं होता। अतः देवों ने तुरन्त ही उसे सिंहासन से नीचे फेंक दिया और वह रक्त का वमन करता हुआ नर्क में गया। दूसरी ओर नगर के लोगों ने पर्वत को असत्य वादी समझ कर उसका तिरस्कार किया और उसे नगर से बाहर निकाल दिया। तात्पर्य यह है कि एक शब्द के भी अर्थ को पलट देने से महा अनर्थ होता है।

जब सूत्रार्थ की परिपाटी का पालन नहीं किया जाता है तब अनुमान से अर्थ करने का अवसर खड़ा होता है और इससे कभी कभी

कल्पनातीत विषम परिस्थिति खड़ी होती है। इस बात को हम एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा और स्पष्ट करेंगे —

गौतम बुद्ध अपने आखिरी दिनों में वैशाली से पावा (पडरौना, जिला देवरिया) आए। तब वे अस्वस्थ थे। अपने अनुयायियों के साथ चड (चुंद) लोहार के उद्यान में रहते थे। उसने उन्हें अंतिम बार भोजन कराया। उसे "शूकर माद्दवम्" की संज्ञा दी गई है। परंतु "शूकर माद्दवम्" का वास्तविक अर्थ क्या होता है? उस की स्पष्टता बौद्ध शास्त्रों में नहीं होती है। अतः किसी टीकाकार ने उसका अर्थ बाज़ सूअर का पकाया गया मांस किया तो किसी ने उसका अर्थ गवपान यानी पंचगोरस से तैयार किया गया मृदु अन्न लगाया। कोई उसे एक प्रकार का रसायन बताते हैं कि जिसे देने से तुरन्त ही मृत्यु न हो, तो कोई उस का अर्थ वंशकरीर अर्थात् बांस का अंकुर करते हैं। कोई उस का अर्थ 'अहिच्छत्तक' यानी बिल्ली का टोप करते हैं। इन अर्थों में से हम किस अर्थ को वास्तविक समझें,—यह एक विषम समस्या है। बुद्ध चरित्र के लेखक अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी कहते हैं कि भगवान् बुद्ध को अहिंसा की अतिव्यापक व्याख्या कि जो जैन करते हैं, पसन्द न थी। उनका कहना था कि जानबूझ कर निर्दयता से किसी प्राणी को वध न करना चाहिए। परन्तु कोई गृहस्थ यदि उन्हें निमंत्रण देता तो वे उस के यहाँ जा कर मांस का भोजन करते थे जो कि उन्होंने अपने लिए विशेष रूप से पशु को मार के भोजन तैयार करने के लिए अपने उपासकों को मनाई की थी। वे सूकर माद्दवम् या सूकर मद्दवम् के विभिन्न अर्थों को जानने के बाद कहते हैं कि —

" यहाँ सूकर मद्दवम् का मुख्य अर्थ सूकर मास ही किया गया है। फिर भी पता चलता है कि वह पदार्थ किस प्रकार का था, वह बुद्ध घोषाचार्य भी जानते न थे। यह तो निश्चित है कि उसके अर्थ के बारे म भारी मतभेद था। इस पर से यह नहीं समझना है कि भगवान् बुद्ध सूकर मास खाते ही नहीं थे। अगुत्तर निकाय के पचक निपात में यह उल्लेख आता है कि उग्र (उग्ग) गृहपति द्वारा दिये गए सूकर मास को बुद्धने स्वीकार किया था। अत भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण के पहले सूकर मास की भिक्षा ली हो, तो उसमे कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु उन्होंने वह अतिशय लिया, इस कथन का थोडा भी समर्थन नहीं मिलता। अत हमें यह समझना चाहिए कि वह कुत्सित लोगों द्वारा दुष्ट बुद्धि से की गई टीका है। बुद्धदेव कभी अपनी मर्यादा से अधिक खाते न थ। और इस समय भी उन्होंने यह पदार्थ यथानियम ही लिया था। परन्तु वायातीत होने से तथा तीन मास पूर्व ही वैशाली मे गभीर बीमारी बीतान के कारण वे इस पदार्थ को पचा न सके। अत उस रात को उन्होंने परिनिर्वाण पाया।"

अध्यापक कोसम्बी ने इस विषय की चर्चा करते हुए प्रारभ मे कहा है कि बौद्ध धर्म के विरोधी लोग ऐसी टीका करते है कि परिनिर्वाण के पहले बुद्ध ने चुद लोहार के यहाँ सूकर माँस खाया और उसे पचा न सकने के कारण मृत हुए। फिलहाल भारत मे मासाहार के सम्बन्ध मे प्रतिकूल मान्यता होने से यह स्वाभाविक है कि उस टीका को पढ़नेवाले आमलोग बुद्ध भगवान् तथा उनके धर्म की

* देखिये महापरिनिब्बाण सुत्त तथा उदान सुत्त की अट्ठ कथा (टीका)

निंदा करें। अतः बुद्ध भगवान के समय में मांसाहार की प्रथा किस प्रमाण में थी और विरोधी टीकाकारों के कथन में क्या तथ्य है, यही इस लेख में बताया गया है। अतः यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने उक्त चर्चा टीकाकारों को उत्तर देने के लिए की है। परन्तु सुज्ञ पाठक पता लगा सकेंगे कि वे टीका का वास्तविक उत्तर नहीं दे सके हैं। जो लोग कहते हैं कि परिनिर्वाण के पहले बुद्ध लोहार के यहाँ सूकर का मांस खाने से और अजीर्ण होने से बुद्धदेव की मृत्यु हुई, उसमें और ऊपर जो विधान किया गया है, उसमें क्या अन्तर है? वायावीन होने से और उन्हें बिमारी भोगी है अतः वे इस पदार्थ को पचा न सके, इससे अजीर्ण हुआ यह स्पष्ट है, इसमें केवल भाषा का ही अन्तर है। भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ हम एक सरकारी पदाधिकारी की एक घटना का स्मरण हो आता है। उन्हें कुछ व्यक्तियों की ओर से शिकायत की गई कि अमुक जिले में अकाल के लेकर कई आदमी मर गए। इसके लिए सरकार जिम्मेदार है। परन्तु वह अधिकारी यह जिम्मेदारी अपने सिर पर ले, वैसा न था। तब उसने तुरंत ही उत्तर दिया कि यह बात गलत है। वे अनाज खरीदने की शक्ति वाले न थे और भूखमरी के कारण मृत्यु का सामना टाल सकने के लिये समर्थ न थे, अतः मर गए। अध्यापक कोसम्बी का कथन भी क्या ऐसा ही नहीं लगता है?

इससे भी अधिक खेद की बात तो यह है कि गौतम बुद्ध के मांसाहार का बचाव करने के लिए अन्य कोई तरीका न मिलने से उन्होंने उसी लेख में समकालीन जैन श्रमण कि जो अहिंसा की शुद्ध-सुन्दर

" यहाँ सूकर मद्दवम् का मुख्य अर्थ सूकर मास ही किया गया है। फिर भी पता चलता है कि यह पदार्थ किस प्रकार का था, यह बुद्ध घोषाचार्य भी जानते न थे। यह तो निश्चित है कि उसके अर्थ के बारे में भारी मतभेद था। इस पर से यह नहीं समझना है कि भगवान् बुद्ध सूकर मास खाते ही नहीं थे। अंगुत्तर निकाय के पंचक निपात में यह उल्लेख आता है कि उग्र (उग्ग) गृहपति द्वारा दिये गए सूकर मास को बुद्धने स्वीकार किया था। अतः भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण के पहले सूकर मास की भिक्षा ली हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। परंतु उन्होंने वह अतिशय लिया, इस कथन का थोड़ा भी समर्थन नहीं मिलता। अतः हम यह समझना चाहिए कि यह कुत्सित लोगों द्वारा दुष्ट बुद्धि से की गई टीका है। बुद्धदेव कभी अपनी मर्यादा से अधिक खाते न थे। और इस समय भी उन्होंने यह पदार्थ यथानियम ही लिया था। परन्तु वयातीत होने से तथा तीन मास पूर्व ही वैशाली में गंभीर बीमारी बीताने के कारण वे इस पदार्थ को पचा न सके। अतः उस रात को उन्होंने परिनिर्वाण पाया।"

अध्यापक कोसम्बी ने इस विषय की चर्चा करते हुए प्रारंभ में कहा है कि बौद्ध धर्म के विरोधी लोग ऐसी टीका करते हैं कि परिनिर्वाण के पहले बुद्ध ने चुन्द लोहार के यहाँ सूकर माँस खाया और उसे पचा न सकने के कारण मृत हुए। फिलहाल भारत में मांसाहार के सम्बन्ध में प्रतिकूल मान्यता होने से यह स्वाभाविक है कि उस टीका को पढ़नेवाले आमलोग बुद्ध भगवान तथा उनके धर्म की

* देखिये महापरिनिब्बाण सुत्त तथा उदान सुत्त की अट्ठ कथा (टीका)

निंदा करे। अत बुद्ध भगवान क समय मे मासाहार की प्रथा किस प्रमाण म थी और विरोधी टीकाकारो क कथन म क्या तथ्य है, यही इस लेख म बताया गया है। अत यह स्पष्ट होता है कि उन्होने उक्त चर्चा टीकाकारो को उत्तर देने के लिए की है। परन्तु सुज्ञ पाठक पता लगा सकेंगे कि वे टीका का वास्तविक उत्तर नहीं दे सके है। जो लोग कहते हैं कि परिनिर्वाण के पहले चुद लोहार क यहाँ सूअर का मास खाने से और अजीर्ण होने से बुद्धदेव का मृत्यु हुई, उसम और ऊपर जो विधान किया गया है, उसम क्या अतर है? वायानात होने से और उन्होने बिमारी भोगी है अत व इस पदार्थ को पचा न सके, इससे अजीर्ण हुआ यह स्पष्ट है, इसम केवल भाषा का ही अंतर है। भाव में कोई अतर नहीं पडता। यहाँ हमे एक सरकारी पदाधिकारी की एक घटना का स्मरण हो आता है। उन्हे कुछ व्यक्तियों की ओर से शिकायत की गई कि अमूक जिले म अकाल के कारण कई आदमी मर गए। इसके लिए सरकार जिम्मेदार है। परन्तु वह अधिकारी यह जिम्मेवारी अपने शिर पर ले, वैसा न था। तब उसने तुरन्त ही उत्तर दिया कि यह बात गलत है। व अनाज खरीदने की शक्ति वाले न थे और भूखमरी के कारण मृत्यु क सामने टीक रहने के लिये समर्थ न थे, अत मर गए। अध्यापक कासम्बी का कथन भी क्या ऐसा ही नहीं लगता है?

इससे भी अधिक खेद का बात तो यह है कि गौतम बुद्ध के मांसाहार का बचाव करनेके लिए अन्य कोई तरीका न मिलने स उन्हो ने उसी लेख म समकालीन जैन श्रमण कि जो अहिंसा की शुद्ध-सुन्दर

उपासना कर रहे थे, और श्रमण भगवान महावीर कि जो अहिंसा के अद्वितीय उपासक के रूपमें सारे भारत वर्ष में सुविख्यात हुए थे, और जिनकी अमृत वर्षिणी उपदेशधाराने हिंसा का बुनियाद को डॉवाडोल कर दिया था, उन पर ही मांसाहार का आक्षेप लगाया है।

यदि अध्यापक कोसम्बीने स्वयं दशवैकालिक सूत्र पर दृष्टिपात किया होता, तो उस में पहला ही सूत्र वे पढ़ सकते कि '**धम्मो मंगल-मुक्किठ अहिंसा संजमो तवो**'—अहिंसा, संयम और तप रूपी धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह अहिंसा उनके द्वारा वर्णित भगवान बुद्ध के जीवन की अहिंसा जैसी पोली न थी, परन्तु इतनी विस्तृत थी कि उस में पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि, वनस्पति और सभी चल—अचल प्राणियों के मन, वचन और काया से अतिपात न करने का विधान था। इसलिए समकालीन जैन श्रमण हलन—चलन तथा खड़े होते, बैठते एवम् शयन या भोजन करते समय सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की भी हिंसा न हो, उसका पूरा ध्यान रखते है।

यदि अध्यापक कोसम्बी ने प्रश्नव्याकरणसूत्र का संवरद्वारा देखा होता तो उन को पता चलता कि जैनों की अहिंसा में मद्य एवम् मांस तक का निषेध है। उन्होंने सूत्रकृतांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कंध देखा होता तो उन्हें जैन श्रमणों के गुणों में **अमज्जमंसासिणो** अर्थात् मद्य और मांस का भक्षण न करने वाले, ऐसे स्पष्ट शब्दों के दर्शन होते। यदि उन्होंने श्री स्थानांग सूत्र का चौथा स्थान ही देखा होता तो उस में उन्हें अवश्य दीख पड़ते कि चार कारणों को लेकर जीव नर्क में जाता है, उनमें मांसाहार भी है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के पाँचवें, सातवें तथा उन्नीसवें अध्ययन में भी वे देख सकते कि मद्य और मांस का उपयोग

करन वाग्ना की कैसी दुर्गति होती है। यहाँ यह उपदेश देने का यही उद्देश्य है कि कोई जैन-श्रमग मत और मांसका उपयोग करने का लालच न करे।

जैन सूत्रों में तो कदम कदम पर जीव-हिंसा से बचने का उपदेश है। और सयमी जीवन का प्रारम्भ ही अहिंसा के शुद्ध पालन से होता है। फिर मांसाहार की कल्पना ही कैसे की जाय? परन्तु अध्यापक कोसम्बी तो जैन-श्रमणों को (हम यह नहीं जानते कि जैन श्रमण बुद्ध के मांसाहार की निंदा करते थ। परन्तु अध्यापक कोसम्बी स्वयं कह रहे हैं, इसलिए हमने यहाँ उन शब्दों का उपयोग किया है।) येनकन प्रकारेण हीन बताना था, इसलिए व उन पाठों पर दृष्टि डालने का कष्ट क्यों करें?

श्रमण भगवान् महावीर की जीवन घटना के बारे में उन्होंने अन्य द्वारा दिया गया भगवती सूत्र का नीचे का पाठ प्रस्तुत किया है —

त गच्छह ण तुम सीहा! मेंढियगाम नगर रेवतीए गाहावतिणीए गिहे तत्थ ण रेवतीए गाहावतिणीए अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं नोअट्ठो। अत्थि से अन्न पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमसए तमाहराहि एएणं अट्ठो।

आगम सूत्र के समर्थ टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजीने इस पाठ का अर्थ करते हुए कहा है कि 'ततो गच्छ त्व मढिकग्रामनगरमध्ये तत्र रेवत्याभिधानया गृहपत्न्या मदर्थकुष्माण्डफल उपस्कृते, न चैताभ्या प्रयोजन, तथा अन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितमार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमासक बीजपूरक कटाह इत्यर्थ तदाहर तेन न प्रयोजनम

अर्थात् हे सिंह ! तू मढिकग्राम नामक नगर में जा और रेवती नामक गृहपत्नी द्वारा मेरे लिए जो कोहडे के दो फल मस्कार कर तैयार किए है, उनका कोइ प्रयोजन नहीं हैं, परन्तु उस के घर में और जो माजार नामक वायु की निवृत्ति करने वाला कुक्कुट मास अथात् बाजपूरक का गर्भ है, उसे ले आन। उस की मुझे आवश्यकता है।

इस परपरागत जैन मतद्वारा मान्य अर्थ का उद्धरण लने के बन्ले अध्यापक कोसम्बीन उस का निम्न अर्थ किया है —

'ऐसे समय म महावीर स्वामीने सिंह नामक अपने शिष्य से कहा कि तू मढ़िक ग्राम म जा। उसने मेरे लिए दो कपोत पका रखे हैं, ये मुझे नहीं चाहिए। उसे कहना कि काली बिल्ली द्वारा मारी गई मुर्गी का जो मास तुने बनाया है वह दे दे।'

एक गण्यमान्य विद्वान सूत्रसिद्धान्त का मनचला अर्थ करे और किसी भी प्रकार अपने द्वारा मान्य सिद्धान्तको सिद्ध करने की बात करे, यह सचमुच दु खद बात है। श्रमण भगवान् महावीर के समग्र जीवन में मासाहार की कोइ घटना ही नहीं घटी है। तब अध्यापक कोसम्बी का यह कथन कि इस विषय में भरसक प्रमाण उपलब्ध हो गये है, एक तरह का व्यामोह ही हो सकता है न ? फिर उन्होंने इस चर्चा म बताया है कि श्री गुलाबचद्रजी स्वामी नामक एक स्थानकवासी वयोवृद्ध साधु ने अपने अर्थ को सम्मति दी है। वह भी कृत्रिम सिद्ध हुआ है। इस विषय मे श्री गुलाबचद्रजी स्वामीन स्पष्टता करते हुए बताया है कि —यह मेरे स्मरण मे नहीं है कि मैने १९८५ म अहमदाबाद मे मासाहार सम्बन्धी बात की हो। तदुपरात जैन—श्रमण मासाहार या शराब का कभी भक्षण

करते ही नहीं हैं। धर्मानंद कोसम्बी ने भगवान्–बुद्ध–नामक पुस्तक में जो लिखा है, उस में कोई तथ्य नहीं है और उसके साथ मैं सहमत नहीं हूँ। मांसाहार की बात मुझे स्वीकार्य नहीं है।

अब अध्यापक कोसम्बी ने अपनी चर्चा के समर्थन में श्री दशवैकालिक सूत्र का जो पाठ दिया है और उसका जो अर्थ किया है उसे भी देखें।

> बहु अट्ठिय पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटयं।
> अत्थियं तिंदुयं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं॥
> अप्पे सिआ भोअणज्जाए, बहु उज्झियधम्मियं।
> दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पई तारिसं॥

जैन परिपाटी के अनुसार उसका अर्थ नीचे लिखे अनुसार किया जाता है —

जिस में बहुत बीज हों, ऐसे फल (जैसे कि सीताफल इत्यादि) अनिमिष नामक वृक्ष का फल तथा जिस बहुत कांटे हों, ऐसा फल (उबाले गये सिंघाड़े इत्यादि) अस्थिये का फल बिल्वफल, इख के टुकड़े, सामली वल का फल इत्यादि फल, शायद अचित्त हों, फिर भी उन में खाद्य अंश कम और फेंक देने का अंश अधिक होता है। अतः भिक्षु ये चीज़ें देने वाले दाता से कहते हैं कि यह भिक्षा मेरे लिए योग्य नहीं है।

परन्तु अध्यापक कोसम्बीने इस गाथा का अर्थ किया है कि बहुत हड्डियों वाला मांस, बहुत कांटों वाली मछली अस्थि वृक्ष का फल बेल का फल, ईख के टुकड़े इत्यादि पदार्थ (जिस में खाने का भाग कम

और फेक देने का अश अधिक हो।) के बारे में देनवाली को ऐसा कह कर रोका जाय कि वह मेरे लिए उचित नहीं है।

यहाँ अस्थि का अर्थ हड्डी और काटे का अर्थ मछली के काटे लगा कर के ऐसा भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है की मानों जैन श्रमण भी माँस–मछली लेनेको (वहोरनेको) जाते थे।

प्राचीन साहित्य मे माँस, अस्थि, मज्जा इत्यादि शब्द वनस्पति के अंगों को पहचान के लिए उपयोग में लिए जाते थे। यह बात क्या अध्यापक कोसम्बी जैसे गण्यमान्य विद्वान नहीं जानेते होंगे? सुश्रुत–महिता में शरीर स्थानीय तृतीय अध्ययन में आम्रफलों के अवयवों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि '**आम्रफले अपरिपक्वे केशरमासास्थिमज्जा न पृथग् दृश्यन्ते।**' अर्थात् कच्चे (छोटे) आम के फल में केसर, अस्थि, मास और मज्जा अलग अलग दिखाई नहीं देते। 'चरक सहिता' पृष्ठ १०२ पर खजूर और नारियल का वर्णन करते हुए महर्षि आत्रेयने लिखा है कि "**खर्जूरमासान्यथ नारिकेल**" अर्थात् खजूर और नारियल का मासा इसी प्रकार जैन सूत्रों में वनस्पति का वर्णन करते हुए अस्थि इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। श्री प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में श्री गौतम स्वामी भगवान से पूछते हैं कि "**से तं किं रुक्खा?। रुक्खा दुविहा पण्णत्ता तं जहा एगट्ठिया य बहुबीयगा य**' अर्थात् हे भगवन्। वृक्ष कितने प्रकार के होते हैं? भगवान उसका उत्तर देते है की हे गौतम। वृक्षों के दो प्रकार हैं। एक गोठली वाले और दूसरे बहुत बीज वाले। यहाँ अस्थि शब्द आने से यदि हड्डी का अर्थ लगाया जाय, तो एक हड्डी वाले और दूसरे बहुत बीजवाले, इस प्रकार दो तरह

के वृक्ष हो सकते है। परंतु अभी तक किसीने हड्डीवाले वृक्ष देखा नहीं हैं। तात्पर्य की जहाँ जो प्रकरण चल रहा हो, और जो अर्थ परिपाटी हो, उसका अनुसरण करते हुए शब्द का अर्थ करना चाहिए।

जैन श्रमणों की हजारों जीवन कथाएँ लिखी गई हैं। उन में किसी भी स्थान पर माँस लेने के लिए जाने की या मास ग्रहण करने की तथा उसमें भी बहुत हड्डियाँ वाला मास या बहुत कांटा वाली मछली ग्रहण करने की घटना यदि अध्यापक कोसम्बीने अपने मत समर्थन में बताई होती तो कोई भी तटस्थ विद्वान इस विषय पर विचार करने के लिए तैयार होते। परंतु ऐसा तो एक भी उदाहरण वे दे सके नहीं हैं और दे सकते भी नहीं हैं। क्यों की वास्तव में मूल ही नहीं है, फिर शाखाओं के विस्तार का तो बात ही कैसे की जाय? जैनों के जीवन में आज तक मद्य–मांस के निषेध का पूर्ण रूपसे पालन किया जाता है यह बात भी अध्यापक कोसम्बी के मत को भ्रमपूर्ण बताने के लिए पर्याप्त है।

अब हम शूकर माद्दवम् कि मूल चर्चा करें —

प्रो० ललित मोहनकार काव्यतीर्थ, एम ए बी एल शूकर माद्दवम् के अर्थ का विद्वता पूर्ण विवेचन करते हुए बताते हैं कि "वास्तव में यह बात निश्चित सी प्रतीत होती है कि एक अशीतिवर्षीय व्यक्ति को, जो पिछले चालीस वर्षों से एक पुण्यात्मा के रूप में विख्यात हो तथा अयत संभवतया दंतहीन हो—पशु के मास का भोजन दिया जाय। इस के अतिरिक्त इस प्रकार का भोजन उन के सिद्धान्तों के पूर्णरूपेण प्रतिकूल था। बौद्धों के शीलों अथवा संयमों का (५, ८ अथवा १० नियमों का, जिनकी संख्या आध्यात्मिक उन्नति के अनुसार निर्धारित होती हैं)

इत्यादि की तरह सिद्ध नामक प्रभावक गिने जाते है। और जो महा
अद्भुत काव्यशक्ति द्वारा हजारों लोगों के हृदयों को जीत सकते हैं,
सिद्धसेन दिवाकर या श्री हेमचंद्राचार्य इत्यादि की तरह कवि नाम
प्रभावक माने जाते है।

प्रभावक चरित्र, प्रबंध चिंतामणि, प्रबंध कोष, इत्यादि ग्रंथों
ऐसे अनेक प्रभावक पुरुषों की जीवन कथाएँ वर्णित की गई हैं।

चारित्राचार

पाच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना, सो चारित्र
चार है, जिसका विस्तृत वर्णन पिछले प्रकरण मे किया गया है।

तपाचार

जैनशास्त्रों ने तप को भी अहिंसा और संयम जितना ही मह
दिया है। क्योंकि उसी के द्वारा आत्मापर लगे हुए कर्मों का नाश
सकता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि " भवकोडिसंचिय क
तवसा निज्जरिज्जइ," करोडो भवों के संचित कर्म तप द्वारा झड़ जाते हैं

श्रमण भगवान् महावीर ने दीर्घ तपश्चर्या करके अपने कठिन क
को नष्ट किया। इस घटना ने तपश्चर्या को जैनसंघ के लिए आदर्श
बनाया है। गृहस्थ भी द्वितीया पंचमी, अष्टमी, एकादशी या चतुर्दशी आ
पर्वतिथियाँ करके किसी भी प्रकार की तपश्चर्या करते ही हैं। तो फि
मुक्ति की साधना ही जिनका जीवन-ध्येय है, उनकी तो बात ही क्या
जैनशास्त्र बाह्य और आभ्यंतर, इस प्रकार तप के दो विभाग करते हैं

और दोनों के छ छ प्रकारों का वर्णन करते है। उसका संक्षेप में परिचय कर लेना चाहिए।

अणसणमुणोअरिआ वित्तिसखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया, य बज्झो तवो होइ॥

१ अनशन (अणसण) २ उनोदरिका, ३ वृत्तिसक्षेप, ४ रस-त्याग, ५ कायक्लेश और ६ सलीनता, ये छ बाह्य तप के प्रकार हैं।

(१) अनशन का स्पष्ट अर्थ है भोजन न करना यानि आहार का त्याग करना। 'न अशनमनशनम् आहारत्याग इत्यर्थ' इस तप के दो प्रकार हैं। (१) इत्वर और (२) यावत्कथिक। उनमें नियत समय के आहार-त्याग को इत्वर अनशन कहा जाता है। उसमें समय पूरा होने के बाद भोजन करने की आकांक्षा होती है। और आजीवन आहारत्याग को यावत्कथिक कहा जाता है। उसमें आहार का त्याग करने के बाद कभी भोजन की आकांक्षा नहीं होती है।

उपवास, आयंबिल, एकाशन, इत्यादि तप का इत्वर अनशन में समावेश होता है। जीव का अनादि काल से आहार करने का जो स्व-भाव है, और लोलुपता है, उसके ऊपर इस तप द्वारा सुंदर काबू प्राप्त किया जा सकता है।

विदेश में बनार्ड एक्फ़ड़न इत्यादि लेखकों ने उपवास के संबंध में बहुत सी मीमांसा की है। और इस देश में भी भिन्न भिन्न लेखकों ने बार बार यह जाहिर किया है कि उपवास से आरोग्य प्राप्त किया जा सकता है। उपवास द्वारा असाध्य रोगों को दूर किया जा सकता है।

परतु जैन परपरा में तो मात्र कर्म की निर्जरा करने के उद्देश्य से ही तप का विधान किया गया है। उसमें स्पष्ट बताया है कि –

पूजालाभमसिद्धयें, तपस्तप्यते योऽल्पधीः।
शोप एव शरीरस्य, न तस्य तपसः फलम् ॥

जो मदबुद्धि मनुष्य पूजा, लाभ या प्रसिद्धि के लिए तप करता है, उसे तप का फल मिलना नहीं है। वह तप केवल शरीर का शोषण है।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि जैन–श्रमण किसी के हृदय का परिवर्तन करने के लिए या किसी पर दबाव डालने के लिए कभी उपवास आदि का आश्रय लेते नहीं हैं। क्योंकि ऐसी तपश्चर्या आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान की वृद्धि करनेवाली होने से वे उसे एक प्रकार का लाघन गिनते हैं।

(२) उनोदरिका यानी भूख से कुछ कम खाना। सामान्यत पुरुष का आहार बत्तीस कवल (ग्रास) और स्त्री का आहार अट्ठाईस कवल (ग्रास) माना जाता है। उससे दो चार कवल कम खाया जाय तो उनोदरिका होती है। इस तप से मन पर काबू आता है और आहार–सज्ञा को जीतने में अच्छी सी सहायता मिलती है।

(३) वृत्ति–सक्षेप अर्थात् वृत्ति का सक्षेप करना। आहार और पानी द्वारा जीवित रहा जा सकता है। अत उसे वृत्ति कहा जाता है। यह तप श्रमणों की गोचरी के अभिग्रहरूप होता है। उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये प्रकार हैं। उनमें अमुक स्थिति कीया अमुक वस्तु यदि मिल

आय तो लेना, वह द्रव्य अभिग्रह है। अमुक निशानवाले व्यक्तियों के हाथों से ही आहार लेना, वह क्षेत्र अभिग्रह है। सभी भिक्षुकों की भिक्षा के लिए जाने के बाद गोचरी लेने को जाना, वह काल अभिग्रह है। और दाता हँसता हुआ या रोता हुआ या अमुक ही भाववाला हो तो लेना वह भाव अभिग्रह गिना जाता है। श्रमण भगवान् महावीर ने दस बोल से इन चारों प्रकार के अभिग्रह किये थे और पांच मास और पच्चीस दिन के बाद उसका पारणा (निवारण) श्री चंदनबाला के हाथों से हुआ था, यह घटना सुप्रसिद्ध है।

गृहस्थ खान-पान के द्रव्यों की संख्या को कम करके यह तप करते हैं।

(४) रसत्याग अर्थात् रस को मनावाले द्रव्यों का त्याग करना। जैन शास्त्रों में रसमजक द्रव्यों को विकृति कहा जाता है। क्योंकि वह मन, वचन और काया में विकृति पैदा करती है। विकृति के मुख्य १० भेद हैं। (१) मध, (२) मदिरा, (३) मक्खन, (४) मास, (५) दूध, (६) दही, (७) घी, (८) तैल, (९) गुड और (१०) पक्वान। उनमें ये चार महा विकृति पदार्थ है, मध, मदिरा, मक्खन और मास। इनमें उन उन प्रकार के असंख्य जीव पैदा होने से एव वे पदार्थ तामसी होने से सर्वथा अभक्ष्य हैं। शेष विकृतियों का यथासंभव कम उपयोग करना है। स्वाद के लिए डाली जानेवाली मिर्चे इत्यादि भी अपेक्षाविशेष से रस हैं। उसमें भी संयमी बनना आवश्यक है।

रस की गृद्धि से अनेक प्रकार के रोग होते हैं, और कई बार प्राण भी खोना पडता है। रसवाला भोजन इंद्रियों को उत्तेजित करता

है। इसलिए ब्रह्मचर्य के सातवें नियम में "प्रणीतभोजनम्" अर्थात् मादक आहार का त्याग करना, यह विधान है।

छ विकृतियों का और मिर्च इत्यादि मसालों का त्याग करना उसे एकासन युक्त आयंबिल कहा जाता है। इस तप की विशेष आराधना के लिए चैत्र शुक्ल सप्तमी से पूर्णिमा और आश्विन शुक्ल सप्तमी से पूर्णिमा तक, इस प्रकार नौ-नौ दिनों की ओलियाँ नियत की गई हैं। तदुपरात आयंबिल वर्धमान तप की योजना भी है, जिसमें एक आयंबिल और एक उपवास, दो आयंबिल और एक उपवास, तीन आयंबिल और एक उपवास, इस प्रकार उत्तरोत्तर सौ आयंबिल और एक उपवास किया जाता है। यहाँ नोट करने जैसी बात यह है कि आज अनेक जैन-श्रमण इस तप की व्यापक परिमाण में आराधना करते हैं और कई श्रमणों ने तो उसकी सफलतापूर्वक पूर्णाहुति भी की है।

(५) कायक्लेश यानी तपश्चर्या के निमित्त शरीर को जो क्लेश या कष्ट हो, उसे समतापूर्वक सहन करना। खुले पैर सैकड़ों मीलों तक विहार करना, केश का लोच करना, एक आसन से लम्बे समय तक बैठ रहना, इत्यादि क्रियाओं द्वारा इस तप की आराधना की जाती है।

(६) संलीनता यानी शरीर, वाणी और मन का संगोपन करना। जैन श्रमण स्त्री, पशु और नपुंसक के वास से रहित ऐसे एकान्त विशुद्ध स्थान में वास कर के मन को विषय से विमुख बना कर इस तपश्चर्या की आराधना करते हैं।

पानी में खड़ा रहने में, अग्नि जलाने में, कच्चे फल, फूल या

अन खाने में एक प्रकार की हिंसा है। अत जैन श्रमण इस प्रकार के तपों का आचरण नहीं करते हैं।

पायच्छित विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण उस्सग्गो विअ, अब्भितरओ तवो होइ ॥

१ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ ध्यान और ६ उत्सर्ग, ये आभ्यंतर तप है।

(१) पाच महाव्रत ये मूलगुण हैं। और उन्हें सहायता पहुँचानेवाले अन्य व्रत या नियम उत्तरगुण कहे जाते हैं। इन मूल गुणों और उत्तर गुणों के पालन में जो जो स्खलनाएँ हो जायें, उन्हें श्रमणों की भाषा में अतिचार कहा जाता है। ऐसे हरएक अतिचार की शुद्धि गुरुदत्त प्रायश्चित द्वारा कर लेनी चाहिए। उसकी सामान्यत विधि यह है कि हरएक साधक अपने गुरु के समक्ष पूर्णत माफ दिल से अपनी स्खलना यानी अपने अतिचार का इकरार करे और गुरु उसका प्रकार देखकर साधारण, मध्यम या कम तप आदि दड दे। उस को शुद्धि का निमित्त समझ कर प्रसन्नतापूर्वक भोगना चाहिए। इस प्रकार साधक को अपने अभ्यन्तर जीवन की शुद्धि कर लेना चाहिए। किस अतिचार की कितना दड देना चाहिए उसका आधार शास्त्रानुसार गुरु की इच्छा पर है। इस विषय की विस्तृत विचारणा छेद सूत्रों मे की गई है। इसे प्रायश्चित्त कहते हैं।

(२) विनय का साधारण अर्थ नम्र आचरण होता है। परन्तु यहाँ ज्ञानादि मोक्षसाधना की यथाविधि ... किया गया है। उसके ये ५ भेद

करना, वह अनुप्रेक्षा है, और उसका अन्य के साथ विनिमय करना, उसे धर्मकथा कहते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए स्वाध्याय मुख्य उपाय है और उस के द्वारा चित्त की उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। अतः उसकी गणना अभ्यंतर तप में की गई है।

(५) ध्यान अर्थात मन की एकाग्रता। वह जब किसी इष्ट के अयोग या अवियोग के और किसी दुःख या पीड़ा के निवृत्ति या अनागमन के विचारों के कारण होता हो, तब उसे आर्तध्यान कहा जाता है। किसी के प्रति वैर, विरोध या लालच के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, और संरक्षण के विचारों से हुइ हो, तब उसे रौद्रध्यान कहा जाता है। यदि वह धर्म-साधना के निमित्त हुई हो, जिनाज्ञा, रागादि के कटु परिणामस्वरूप, कर्म के विपाक या लोक संस्थान के विचार से हुई हो, तब उसे धर्म-ध्यान कहा जाता है। और जब आत्मा की परम विशुद्धि के निमित्त सूक्ष्म तत्त्व के स्थिरचिंतन हुआ हो, तब उसे शुक्ल ध्यान कहा जाता है। इनमें प्रथम दो ध्यान अशुभ होने से त्याज्य हैं। और अंतिम दो ध्यान शुभ होने से उपादेय हैं। यहाँ ध्यान शब्द से इन दो ध्यानों को समझना है।

वास्तव में श्रमण-जीवन की साधना इन दोनों प्रकारों के ध्यानों को सिद्ध करने के लिए आयोजित की गई है। आत्मा जब कर्म-रहित बनती है, तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मा कर्म-रहित तभी बनती है, जब आत्मा शुक्ल ध्यान पर आसीन होती है। आत्मा शुक्ल ध्यान पर तभी आरुढ़ होती है, जब कि धर्मध्यान अच्छी तरह सिद्ध हुआ हो।

और जब मन आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से निवृत्ति पाता है, तभी धर्म ध्यान अच्छी तरह सिद्ध हो सकता है। तदुपरान्त मन संयम, चारित्र और आचार-पालन के योग से शान्त और स्थिर होना चाहिए। अतः जैन श्रमण संसार का त्याग कर के संयम को स्वीकार करते हैं, चारित्र का रक्षण एवं विकास करते हैं और आचार पालन में प्रवीण हों, मन को शान्त और स्थिर बनाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील रहते हैं।

जैन श्रमण, श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा, और अनुप्रेक्षा को ध्यान सिद्धि के मुख्य साधन मानते हैं। श्रद्धा है कलुषित चित्त के त्याग पूर्वक जीव, अजीव आदि तत्त्वों का प्रकाश प्राप्त करने की आन्तरिक जागृति या रुचि। मेधा है मिथ्या शास्त्रों को छोड़कर हेय और उपादेय का यथार्थ विवेक कराने वाले सम्यक्-शास्त्रों के प्रति अत्यन्त आदर और उपादेयबुद्धि। धृति है धैर्य, मानसिक प्रणिधान, जिसमें दीनता—व्याकुलता आदि दोष रहित धीर एवं गम्भीर आश्चर्ययुक्त विशिष्ट मन प्रीति रहती है। धारणा का अर्थ है अविस्मरण, एक बार ग्रहण किए विषय को न भूलते हुए क्रमबद्ध याद रखना। और अनुप्रेक्षा का अर्थ, परम संवेग यानी धर्मरुचि, मोक्षरुचि को बढ़ानेवाला सूत्र तथा अर्थ पर एकाग्र चिंतन करना, यह है। इन पाँचों साधनों से आत्मा के अध्यवसाय क्रमशः शुद्ध होते जाते हैं और चित्त में विक्षेप डालने वाले कारण दूर हो जाते हैं। परिणामस्वरूप ध्यान की शुद्धि बहुत जल्दी होती है।

धर्मध्यान के चार प्रकार हैं। मन द्वारा सर्वज्ञ भगवन्त की आज्ञा के वैशिष्ट्य सम्बन्धी जब एकाग्र प्रकार चिंतन होता है तब उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहा जाता है। जब सांसारिक

रागादि भावों द्वारा उपस्थित होने वाले अपाय (नुकसान) का लगातार एकाग्र चिंतन होता है, तो उसे अपायविचय धर्मस्थान कहा जाता है। जब कर्म के शुभाशुभ विपाक का सतत एकाग्र चिंतन होता है, तो उसे विपाकविचय धर्मध्यान कहा जाता है, और जब षड् द्रव्य और चौदह राजलोक क्षेत्र सम्बधी सतत एकाग्र चिंतन चल रहा हो, तब उसे सस्थानविचय धर्मध्यान कहा जाता है।

व्याक्षेप और समोहादि रहित स्थिति, वह शुक्लध्यान का मुख्य लक्षण है। उसके भी चार प्रकार हैं। वितर्क याने श्रतज्ञान के आलम्बनपूर्वक किसी भी एक द्रव्यगत पर्यायों के भेद का विविधतापूर्वक एकाग्र चिंतन करना उसे पृथकत्व–वितर्क–सविचार शुक्ल ध्यान कहा जाता है। वितर्कपूर्वक यानी श्रुतज्ञान के आलम्बनपूर्वक द्रव्य के एक ही पर्याय का अभेद भाव से एकाग्र चिंतन करना, उसे एकत्व–वितर्क-निविचार शुक्ल ध्यान कहा जाता है। इस ध्यान पर लगते ही आत्मा की मूलभूत शक्तियों का अवरोध करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अनराय नामक चारों घाती कर्मो का नाश होता है। अथात आत्मा के लिए अप्रतिहत एसे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होते हैं। उसके कारण वह लोकोलोक के सभी पदार्थों के सर्वकाल सम्बन्धी सभी भाव ज्ञात कर सकते हैं और देख सकते है।

जिस ध्यान में स्थूल और सूक्ष्म मन, वचन और काया के योगों का निरोध करने की सूक्ष्म क्रिया ही रही हुइ है, अर्थात् सूक्ष्म क्रिया से पतित होना नहीं है, उसे सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहा जाता है, और जो ध्यान क्रिया के बिल्कुल समुच्छेद स्वरूप हो और

इसमें निवृत्ति न हो, उसे व्युपरत-क्रियाऽनिवृत्ति शुक्ल ध्यान कहा जाता है। शुक्ल ध्यान के ये अंतिम प्रकार गुणस्थान की सर्वोच्च भूमिका पर अर्थात् तेरहवें गुणस्थानक के अंत में और चौदहवें गुणस्थानक पर पहुँचे जीवों में होते हैं। और उसका काल बहुत अल्प यानी अ, इ, उ, ऋ, ऌ ये पांच ह्रस्व अक्षर बोले जाय, उतना ही होता है। इस ध्यान से आत्मा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र नामक शेष चार अघाती कर्मों का उच्छेद कर के चरमदेह (चरमदेह इसलिए कि उसे फिर देह धारण करना नहीं है।) का त्याग करती है। और ऊर्ध्व गति से एक ही समय में सारे सिद्धशिला में पहुँचकर उसके अग्र भाग पर स्थिर होता है। यहाँ सिद्धावस्था प्राप्त सभी जीव अनंत काल तक अनिर्वचनीय सुख का उपभोग करते हैं।

(६) जैन श्रमण ध्यान-सिद्धि के लिए कायोत्सर्ग का मुख्य आलम्बन यानी स्वीकार करते हैं। और यह क्रिया करते समय कैसे भी भयंकर प्रसंग उपस्थित हो या प्रलोभन के क्षण आ पहुँचे फिर भी अचल रहना होता है। इसके बारे में शास्त्रों में कहा है कि —

> वासी-चंदणकप्पो, जो मरणे जीविए य सममणो।
> देहे य अपडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स॥

शरीर को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से छेद किया जाय या उस पर चन्दन का शान्त लेप किया जाय अथवा जीवन टिके या जल्दी विनष्ट हो, फिर भी देहभावना से कम्पित न होते हुए मन को समभाव में स्थिर रखने से कायोत्सर्ग सिद्ध होता है। अर्थात् वह कायोत्सर्ग द्वारा

उत्तम प्रकार का ध्यान सिद्ध करने के लिए शक्तिमान होता है।

यहाँ ध्येय के बारे में भी थोड़ा सी स्पष्टता कर लें। क्योंकि भूमिका के अनुरूप उसका स्वरूप बदलता रहता है। प्रथम पिंडस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिसमें पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वभू नामक पाच धारणाएँ सिद्ध करनी पड़ती हैं। बाद म पदस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिसम सूत्रगत भिन्न भिन्न प्रकार के वर्णों पर मन को स्थिर करना होता है। फिर रूपस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिस में सभी अतिशयों से पूर्ण, केवलज्ञान से युक्त और समवसरण–स्थित अरिहंत प्रभु का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान से साधक का मन अत्यंत स्थिर होता है। आखिर रूपातीत ध्येय का आलम्बन लिया जाता है और इसमें निरंजन, निराकार, चिदानंदघन सिद्ध परमात्मा का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान से साधक में तन्मयता प्रगट होती है और उसका मन परमात्मदशामें लीन होता है।

उत्सर्ग या व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग है। द्रव्य और भाव के भेद से उसके दो प्रकार माने गये हैं। उनमें द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं – (१) गणव्युत्सर्ग (लोक समूह का त्याग कर के एकाकी विहार करना), (२) शरीर व्युत्सर्ग (शरीर पर से माया ममता का सर्वांश त्याग करना), (३) उपधि व्युत्सर्ग (उपधि इत्यादि का त्याग करना) और (४) भक्तपान व्युत्सर्ग (खान–पान का सर्वथा त्याग करना)

भाव व्युत्सर्ग के तीन प्रकार है –(१) कषाय व्युत्सर्ग, (२) संसार व्युत्सर्ग और (३) कर्म व्युत्सर्ग। इस तप का रहस्य यह है कि

सभी प्रकार की ममताओं का त्याग करके एकाकी भावसे विहार—करना, कषायों का त्याग करना और सभी कर्मों का नाश हो ऐसे प्रयत्नों में लगे रहना चाहिए।

श्रमण भगवान महावीर देव ने अपने पूर्व के तीर्थंकरों की तरह बाह्य और आभ्यंतर तपश्चर्या की प्ररूपणा की है। और इसलिए श्रमण उन दोनों प्रकारों की तपश्चर्या द्वारा कर्म—बंधनों को नष्ट कर के मुक्ति का अनिर्वचनीय अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त करते हैं। फिर भी महावीर प्रभु के समकालीन गौतम बुद्ध ने कई स्थान पर इस तपश्चर्या को मात्र कायदण्ड के रूप में बताकर उसका उपहास करने का प्रयत्न किया है। सुज्ञ जन उसके औचित्य का विचार कर सकते हैं। जैन शासन में अज्ञान कायदण्ड नहीं है, परन्तु उस में मन, वचन और काया इन तीनों का संयम एवं शुद्धि करने का उपदेश है और इसलिए बाह्य और आभ्यंतर, इस प्रकार दो तरह की तपश्चर्या का उल्लेख किया गया है। बुद्ध स्वयं पूर्ण तपश्चर्या न कर सके अथवा उनके द्वारा की गई तपश्चर्या से उन्हें अपेक्षित आत्म—प्रकाश न मिला, इसीलिए उन्होंने शारीरिक तितिक्षा को केवल कायदण्ड कह कर उसे निम्न कोटिका बताया और मन की शुद्धि पर जोर दिया। परन्तु शरीर और इन्द्रियों पर काबू आये बिना मन की शुद्धि कैसे संभवित हो सकती है? ऐसा प्रयत्न न करने से बौद्ध श्रमण अति शिथिल बन गए और उनके लिए एक विद्वान को कहना पड़ा कि —

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,
मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे।

उत्तम प्रकार का ध्यान सिद्ध करने के लिए शक्तिमान होता है।

यहाँ ध्येय के बारे में भी थोडी सी स्पष्टता कर लें। क्योंकि भूमिका के अनुरूप उसका स्वरूप बदलता रहता है। प्रथम पिंडस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिसमें पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वभू नामक पांच धारणाएँ सिद्ध करना पड़ती हैं। बाद में पदस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिसमें सूत्रगत भिन्न भिन्न प्रकार के वर्णों पर मन का स्थिर करना होता है। फिर रूपस्थ ध्येय का आलम्बन लिया जाता है, जिस में सभी अतिशयों से पूर्ण, केवलज्ञान से युक्त और समवसरण-स्थित अरिहंत प्रभु का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान से साधक का मन अत्यंत स्थिर होता है। आखिर रूपातीत ध्येय का आलम्बन लिया जाता है और इसमें निरंजन, निराकार, चिदानंदघन सिद्ध परमात्मा का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान से साधक में तन्मयता प्रगट होती है और उसका मन परमात्म-दशामें लीन होता है।

उत्सर्ग या व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग है। द्रव्य और भाव के भेद से उसके दो प्रकार माने गये हैं। उनमें द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं — (१) गणव्युत्सर्ग (लोक समूह का त्याग करके एकाकी विहार करना), (२) शरीर व्युत्सर्ग (शरीर परसे माया ममता का सर्वांश त्याग करना), (३) उपधि व्युत्सर्ग (उपधि इत्यादि का त्याग करना) और (४) भक्तपान व्युत्सर्ग (खान-पान का सर्वथा त्याग करना)

भाव व्युत्सर्ग के तीन प्रकार है —(१) कषाय व्युत्सर्ग, (२) संसार व्युत्सर्ग और (३) कर्म व्युत्सर्ग। इस तप का रहस्य यह है कि

सभी प्रकार की ममताओं का त्याग करके एकाकी भावसे विहार-करना, कषायों का त्याग करना, और सभी कर्मों का नाश हो ऐसे प्रयत्नों में लगे रहना चाहिए।

श्रमण भगवान महावीर देव ने अपने पूर्व के तीर्थंकरों की तरह बाह्य और आभ्यंतर तपश्चर्या की प्ररूपणा की है। और इसलिए श्रमण उन दोनों प्रकारों की तपश्चर्या द्वारा कर्म-बन्धनों को नष्ट कर के मुक्ति का अनिर्वचनीय अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त करते है। फिर भी महावीर प्रभु के समकालीन गौतम बुद्ध ने कई स्थान पर इस तपश्चर्या को मात्र कायदण्ड के रूप में बताकर उसका उपहास करने का प्रयत्न किया है। सुज्ञ जन उसके औचित्य का विचार कर सकते हैं। जैन शासन में अज्ञान कायदण्ड नहीं है, परन्तु उस में मन, वचन और काया इन तीनों का संयम एवं शुद्धि करने का उपदेश है और इसलिए बाह्य और आभ्यंतर, इस प्रकार दो तरह की तपश्चर्या का उल्लेख किया गया है। बुद्ध स्वयं पूर्ण तपश्चर्या न कर सके अथवा उनके द्वारा की गई तपश्चर्या से उन्हें अपेक्षित आत्म-प्रकाश न मिला, इसीलिए उन्होंने शारीरिक तितिक्षा को केवल कायदण्ड कह कर उसे निम्न कोटिका बताया और मन की शुद्धि पर जोर दिया। परन्तु शरीर और इन्द्रियों पर काबू आये बिना मन की शुद्धि कैसे सम्भवित हो सकती है? ऐसा प्रयत्न न करने से बौद्ध श्रमण अति शिथिल बन गए और उनके लिए एक विद्वान को कहना पड़ा कि –

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,
मध्ये भक्त पानकं चापराह्णे।

द्राक्षाखण्ड शर्करा चार्धरात्रे,
मुक्तिश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टा ॥

कोमल शय्या में सोना, प्रात काल उठ कर दूध पान करना, मध्याह्न काल को भोजन करना, पिछले प्रहर को मदिरा पान करना और अर्ध रात्रि को द्राक्षाखंड और सक्कर का उपयोग करना, इस प्रकार के धर्म के अंत में शाक्यपुत्र याने गौतमबुद्ध ने मुक्ति देखी थी।

तात्पर्य कि शरीर और इंद्रियों को काबू में रख कर मन की शुद्धि की जाय, ऐसी तपश्चर्या सफल होती है। और उसका ही जैन श्रमण बड़ी सावधानी से अनुसरण करते हैं।

वीर्याचार

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के ऊपर बताए गए आचारों में बाह्य और आभ्यंतर सामर्थ्य बढ़ाना, उसे वीर्याचार कहा जाता है। इस के लिए निर्ग्रंथ नायकों ने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम का सिद्धांत स्थापित किया है। कोई कार्य करने के लिए तैयार होना उसे उत्थान कहा गया है। इसके लिए प्रवृत्ति शुरू करना, उसे कर्म कहा जाता है। उसमें शारीरिक शक्ति का उपयोग करना उसे बल कहा गया है और उत्साह इत्यादि आंतरिक शक्तियों का उपयोग करना, उसे वीर्य कहा जाता है। तथा उस कार्य में चाहे कैसा भी मुसीबतें और रुकावटें क्यों न आवें, उनका प्रतिकार करना, उन्हें प्रसार करना, उसे पराक्रम कहा जाता है। वीर्याचार का रहस्य है कि क्रमश इन पांचों भूमिकाओं पर आरोहण करके ज्ञानादि चारों में परम पुरुषार्थी बनना।

: १३ :

परिषहजय–तितिक्षा

तितिक्षा से देहाध्यास छूट जाता है और परिणामस्वरूप राग तथा द्वेष आदि के बन्धन टूट जाते है, और निरामग दशा यानि वीतराग दशा प्राप्त होती है। इसलिए जैन श्रमण बाईस परिषहजय के द्वारा तितिक्षा का नीचे लिखे अनुसार अनुभव करते हैं।

(१) क्षुधा–परीषह की जय अर्थात् देह भूख से घिरा हुआ हो, श्वासोच्छ्वास बड़ी तेजी से चल रहा हो, और अंग कौवे की टांग जैसे दुर्बल हो गए हों, फिर भी दोष रहित अन्नपान ग्रहण करने के नियमों का थोडा भी अतिचार नहीं करना चाहिए। उल्टा क्षुधा को आनन्द और कर्मक्षय की बुद्धि से सहना चाहिए।

(२) तृषा–परीषह की जय अर्थात् तृषा की असह्य पीडा हो, प्राण कंठ तक आ गए हों, फिर भी जल का उपयोग न किया जाय, तथा अचित्त जल लेने के नियम का थोडा भी भंग न किया जाय। और तृषा के आनन्द और कर्मनिर्जरा के उद्देशपूर्वक सहन करना चाहिए। इसी प्रकार निम्नोक्त परीषह भी आनन्द से और कर्मक्षय के उद्देशपूर्वक सहन करना चाहिए।

(३) शीत–परीषह की–जय अर्थात् कडे में कडी सीठडी हो, अंग अंग को थरनिवाली ठण्डी हो, हाथ पैर ठण्डे पड जाते हों, फिर भी अग्नि का उपयोग नहीं करना चाहिए याने अग्नि से शरीर को गर्म नहीं करना चाहिए। अधिक वस्त्रों का उपयोग नहीं करना चाहिए तथा नियम के विरुद्ध वस्त्रों या वस्ती का उपयोग नहीं

(४) उष्ण–परीषह की जय अर्थात् धूप सख्त पडती हो, सारा शरीर गर्मी से व्याकुल हो गया हो, गर्म पवन शरीर को सेंक रहा हो, फिर भी स्नान करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। अंगों पर जल का उपयोग नहीं करना चाहिए तथा पखे का भी उपयोग करना नहीं है।

(५) दंस–मसक परीषह की जय अर्थात् डास, मच्छर शरीर को बार बार डंख लगाते हों, परन्तु उन पर क्रोध नहीं करनका है। उन्हें ताडि भी नहीं करना चाहिए। लेकिन उस पीडा को सहर्ष सहना चाहिए।

(६) अचेल–परीषह की जय अर्थात् वस्त्र बिलकुल फट गए हों, अति भद्दे लग रहे हों, फिर भी नये वस्त्र पाने की चिंता या आशा करनी नहीं है।

(७) अरति–परिषह की जय अर्थात् गाँव गाँव विहार करते अनियत स्थान पर निवास करने से तथा गोचरी के लिए स्थान स्थान पर घूमने से परेशानी नहीं माननी चाहिए। तथा संयम पर अरुचि भी नहीं करनी चाहिए।

(८) स्त्री–परीषह की जय अर्थात् स्त्री चाहे उतनी स्वरूपवान हो, वस्त्रालंकारों से विभूषित हो, अथवा अपने ओर प्रीति रखने वाली हो, फिर भी जरा भी ललचाना नहीं है।

(९) चर्या–परीषह की जय अर्थात् परीषहों की परवाह किए बिना ग्राम, नगर और देश में अप्रतिबद्धरूप से विहार करते रहना चाहिए। जैन श्रमण चातुर्मास के चार मास एक स्थल पर स्थिर रहते हैं, शेष आठ मास विहार करते रहते हैं।

(१०) निषद्या-परीषह की जय अर्थात् स्थिर होने के लिए यदि कोई अनुकूल और अच्छा स्थान न मिले तो, उसका खेद न करते हुए स्मशान, शून्य घर या किसी वृक्ष की छाया इत्यादि जो कुछ भी मिल जाय, वहाँ शान्त और स्वस्थ चित्त से स्थिर होना चाहिए।

(११) शय्या-परीषह की जय अर्थात् सोने के लिए योग्य स्थान प्राप्त न हो या शय्या, आसन या पाट न मिले तो आसन पर बैठे रहे, परन्तु किसी भी जगह सो जाना नहीं चाहिए।

(१२) आक्रोश-परीषह की जय अर्थात् कोई भी व्यक्ति समझकर या बिना समझे गुस्सा करे, अति कटुक वचन कहे, फिर भी उसके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए।

(१३) वध-परीषह की जय अर्थात् किसी भी स्थल पर मार खाना पड़े, वधक मिले या वध होने की नौबत आए, तब इसी विचार से समता में मग्न रहना चाहिए कि "जीव का नाश होनेवाला नहीं है।"

(१४) याचना-परीषह की जय अर्थात् श्रमण को हरएक चीज के लिए याचना करनी पड़ती है। इसलिए खेद नहीं करना।

(१५) अलाभ-परीषह की जय अर्थात् कितना भी घूमने पर भी यदि किसी स्थल पर भिक्षा न मिले तो खेद नहीं करना है। परन्तु चित्त से ऐसा मानकर कि 'इससे लाभान्तराय कर्म भोगा जाता है' समभाव में स्थिर रहना है।

(१६) रोग-परीषह की जय अर्थात् शरीर में रोग की उत्पत्ति हो, व्याधि का हमला हो या एकाएक कोई पीड़ा हो, उसे शान्त भाव से सहना है, व्याकुल हो जाना नहीं है।

(१७) तृण-स्पर्श परीषह की जय अर्थात् तृण के मथारे पर सोते और बैठते समय कठोर स्पर्श होने से खेद नहीं करना है।

(१८) मैल-परीषह को जय अर्थात् मैल को सहर्ष सहन करना, किन्तु उसे दूर करने की इच्छा से स्नानादि की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

(१९) सम्मान-पुरस्कार परीषह की जय अर्थात् मन से श्रीमन्तों या नृपतियों से सम्मान-पुरस्कार पाने की इच्छा या पाने पर हर्ष नहीं करना है।

(२०) प्रज्ञा-परीषह की जय अर्थात् प्रज्ञा बहुत होने पर भी उसका गर्व या दुरुपयोग करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

(२१) अज्ञान-परीषह की जय अर्थात् प्रयत्न करने पर भी विद्या आती न हो और किसी के द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता न हो तो, इससे खेद या शोक न करते हुए अपने संयम को छोड़ना नहीं है, परन्तु ज्ञानोपासना के सत्पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए।

(२२) दर्शन-परीषह की जय अर्थात् धर्माचरण का फल तात्कालिक न दिखाई पड़ने से या अन्य किसी भी कारण को लेकर वीतराग प्रणीत धर्म या तत्त्व पर से मन जब डाँवाडोल स्थिति का अनुभव करे तब मन का वह परिताप सहन कर लेना चाहिए, परन्तु व्रत, नियम या संयमादि धर्म या तत्त्व में अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए।

तितिक्षा भी संयम का ही एक प्रकार है। परन्तु वह विशिष्ट रूप से समझने योग्य होने से यहाँ उसका स्वतन्त्र निर्देश किया गया है।

: १५ :

दिनचर्या

जैन श्रमण प्रातः काल में बहुत जल्दी उठ कर पंचपरमेष्ठि का ध्यान करते हैं, आत्मचिन्तन करते हैं, रात्रिदोष की शुद्धि करते हैं, प्र-मार्जन–वेदादि करके एक प्रहर तक स्वाध्याय करते हैं और बाद में प्रतिक्रमण करके सूर्योदय से अन्य धर्म-क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ प्रतिक्रमण के बारे में थोड़ी सी चर्चा करेंगे। संयम मार्ग की साधना बहुत दुष्कर है। उसका निरतिचार अर्थात् दोष रहित पालन हो, तो उसमें सिद्धि प्राप्त होती है। परन्तु ऐसी स्थिति तुरन्त प्राप्त होती नहीं है। पूर्व संस्कारों से, प्रमत्तता के कारण तथा अन्य परिस्थितिवश उसमें छोटी-बड़ी स्खलनाएँ हो जाती हैं, अर्थात् छोटे-बड़े अतिचार लग जाते हैं। यदि साधक आत्म-निरीक्षण का आदी रहे तो उसे इन स्खलनाओं-अतिचारों का स्पष्ट ख्याल आ जाता है और पुनः ऐसी स्खलनाएँ–अतिचार न हों, उसका निश्चय करके अपनी साधना में आगे बढ़ सकता है। इसलिए जैन श्रमणों को प्रातः और सायं दो बार प्रतिक्रमण अवश्य करना होता है। उसमें देव-गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करके ज्ञात-अज्ञातरूप से हुई स्खलनाओं की आलोचना करनी पड़ती है, और उसके लिए हृदय का सच्चा पश्चात्ताप व्यक्त करके आवश्यक प्रायश्चित्त को स्वीकार करके शुद्ध होना है। फिर उसमें दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चारित्र की शुद्धि के निमित्त विशेष कायोत्सर्ग करना पड़ता है। और शक्ति के अनुसार तपश्चर्या की प्रतिज्ञा करके यह विधि पूरी

करना पड़ती है। कमरे को हररोज साफ किया जाय तो स्वच्छ रहता है। बर्तनों को रोज साफ किया जाय, तभी चमकते हैं। उसी प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा का हररोज निरीक्षण करने से वह पवित्र रहती है और आखिर में संपूर्ण संयमी बनकर वीतरागता को प्राप्त करती है। हर पंद्रह दिनको, प्रति चार मास को और वर्ष के अंत में यह क्रिया विशेष रूप से की जाती है, उसका भी उद्देश्य यही है।

प्रातःकालीन क्रियाओं में प्रथम प्रतिलेखना—पडिलेहणा होती है। उसके द्वारा वस्त्र, पात्र और संयम के अन्य साधनों का सूक्ष्म अवलोकन किया जाता है। कोई जीवजंतु आ गया हो तो उसे यतनापूर्वक दूर किया जाता है और फिर सब को व्यवस्थित कर के यथास्थान रख दिया जाता है। बाद में निकट के जिन—मंदिर में जा कर दर्शन—स्तुति वंदना करते हैं और बाद में गुरु की आज्ञा के अनुसार वैयावृत्त्य या स्वाध्याय की प्रवृत्ति में लगते हैं।

स्वाध्याय के समय आचार्य सूत्र—सिद्धांत का विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान करते हैं और श्रमण उसे अनन्य चित्त से ग्रहण करके श्रुतज्ञान की अभिवृद्धि करते हैं। इस प्रकार अरिहंतों द्वारा उद्‌बोधित सिद्धांतों का रहस्य वर्तमान श्रमणों तक पहुँचता है और वे उसे जन—हृदय में डालने के लिए असाधारण पुरुषार्थ करते हैं।

जैन श्रमण श्रोताओं की भूमिका को देख कर धर्म का उपदेश करते हैं। उन में प्रथम भूमिकावालों को वे न्याय, नीति, दया, दान, परोपकार, सदाचार इत्यादि का रहस्य समझाते हैं। और इस के लिए आवश्यक नियम बनाते हैं कि जिससे उनमें सुसंस्कारों का सींचन हो

और आगे जा कर त्याग तपश्चर्या के लिए योग्य आराधना करने की शक्ति पैदा हो। दूसरी भूमिकावाला को वे तत्त्वों का और धर्म का स्वरूप समझाते हैं और उनके भिन्न भिन्न अंगों का विशद समीक्षा करते हैं कि जिससे उनमें देशविरति अर्थात् गृहस्थ धर्म और सर्व-विरति अथात् साधु-धर्म के पालन के लिए उत्कट अभिलाषा जाग्रत हो। इससे भी उच्च भूमिकावालों को वे योग, अध्यात्म, ध्यान और तत्वों का सूक्ष्म रहस्य समझाते हैं कि जिससे उनके मन की गहराइ में शंका-वास-नादि जो शल्य भरे पड़े है, व बह जायें और मोक्ष के मार्ग पर आगे कदम रखने का अपूर्व उत्साह पैदा हो।

जैन श्रमणों की वाणी निर्दोष, मधुर और हितकर होने से लोगों को उनका उपदेश सुनने की इच्छा होती है। और उस उपदेश का उन के मन पर गहरा असर पड़ता है। यह कहने की शायद ही आव-श्यकता होगी कि योग्यता को देखे बिना उपदेश करना उसका कोइ अर्थ नहीं रहता।

प्रात काल का स्वाध्याय लगभग दूसरे प्रहर के अन्त तक जारी रहता है। उसे पूरा करने के बाद जैन श्रमण गोचरी के लिए निकलते हैं। और अपने लिए अनुकूल आहार ले आते है। वे गोचरी में प्राप सभी चाजें प्रथम गुरु को बताते हैं और गुरु की अनुज्ञा पा कर उसका उप योग करते हैं। गरम-ठंडी, मीठी-अस्वादिष्ट, खारी-खट्टी सभी चीजें उनके मन समान होती हैं। अत उन्हें बिना रागद्वेष उपयोग में लेते हैं

जैन श्रमण उपवास, आयंबिल, एकाशन, वृत्तिसंक्षेप आदि छोटी बड़ी तपश्चर्याएँ करते ही होते हैं और देह का अस्तित्व जारी रखने

लिए ही आवश्यक आहार–पानी को ग्रहण करते है, इसमें से वे किसी चीज को छोड़ देते नहीं है, या दूसरे दिन काम में आयेगी, इस ख्याल से उसका संग्रह करते नहीं है।

जैन श्रमण आहार करने के बाद फिर स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रवृत्तियों में लग जाते है। तथा मिलने के लिए आए हुए मुमुक्षुओं से धर्म सम्बन्धी कथा, चर्चा, वार्तालाप आदि करते हैं और योग्य मार्गदर्शन देते हैं। उनकी यह प्रवृत्ति लगभग सायंकाल तक जारी रहती है। तीसरे प्रहर के अंत में वे वस्त्रादि की पुनः प्रतिलेखना करते है और यदि आहार-पानी लेना हो तो, चतुर्थ प्रहर के अंत में लेकर सायंकाल के प्रतिक्रमण की तैयारी करते है।

सायंकाल का प्रतिक्रमण समाप्त करके वे सूत्र–सिद्धांत का परिवर्तन करते है मुमुक्षुओं के साथ धर्म–गोष्ठी करते है या कायोत्सर्ग द्वारा धर्म–ध्यान का अभ्यास बढाते हैं। यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि वे रात्रि के समय दीप या विद्युत–प्रकाश का बिल्कुल उपयोग नहीं करते हैं।

इस प्रकार मुनि प्रभात के पूर्व ही रात्रि के अंतिम प्रहर में जाग कर स्वाध्याय, ध्यान तथा अन्य धर्मानुष्ठानों में ही लगातार प्रवृत्ति शील रह कर सारा दिन तथा दिन के अंत तक एवम् रात्रि के प्रथम प्रहर तक मोक्षमार्ग का स्व–पर उपकारक साधना में रत रहते हैं। अब साधना के लिए उपयोगी देह को आवश्यक विश्रान्ति देने की तैयारी करते है। इसलिए दैनिकचर्या में अंतिम संथारा पोरिसी का विधि की जाती है। उसमें सर्व प्रथम संभवित जीव–विराधना के पाप का नष्ट

करने के लिए इर्यापथिकी–प्रतिक्रमण की क्रिया की जाती है। बाद में सर्वविनहर श्री पार्श्वनाथ भगवान् की विशिष्ट स्तुति करते हुए सूत्रों को पढ़कर भावजिन की स्तवना, सर्वकाल के जिनेन्द्र देवों को नमस्कार, समस्त जिन–चैत्यों को वंदना, और समस्त साधु भगवन्तों को प्रणाम करके पंच–परमेष्ठि को नमस्कार किया जाता है। बाद में प्रणिधान–सूत्र द्वारा भवनिर्वेद मार्गानुसारिता, लोकविरुद्ध कार्यों का त्याग, गुरुजन सेवा, परोपकार, इत्यादि तथा भव–भव जिनाज्ञा की उपासना, समाधि–मृत्यु इत्यादि का प्रणिधान किया जाता है।

तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हुए दोषों का निषेध करके सूत्र पठन द्वारा गणधर श्री इन्द्रभूति गौतमस्वामी इत्यादि महामुनियों को तथा पंच–परमेष्ठियों को नमस्कार एवं पाप–व्यापार के त्याग का पुनः प्रतिज्ञा की जाती है। इस प्रकार तीन बार करने के बाद संथारा अर्थात् विश्रान्ति करने के लिए श्रेष्ठ–आचार्यों की सम्मति का मांग इत्यादि सूचक सूत्र पढ़ा जाता है। उसे संथारा पोरिसी सूत्र कहा जाता है।

इस संथारा पोरिसी सूत्र में विशेष करके भावनाएँ की जाती हैं। उनमें एक भावना यह है कि यदि नींद में ही आयुष्य की पूर्णाहुति हो जाय तो शरीर, उपकरण और आहार का ममत्व न हो तथा परलोक में जाते समय यह ममत्व साथ में न हो, इसलिए उनके त्याग का संकल्प किया जाता है। आत्मा को जन्म पाने के बाद आवश्यक प्रेम भी शरीरादि पर पदार्थों पर आसक्ति -ममत्व न रह जाय, इसके लिए यह भावना आवश्यक है। इसकी गाथा इस प्रकार है —

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए।
आहारमुवहि देह, सव्व तिविहेण वोसिरिय ॥

तत्पश्चात् प्राणातिपात (हिंसा) आदि अठारह पापस्थानक जो मोक्षमार्ग की साधना के लिए अवरोधक और दुर्गति के कारण स्वरूप हैं उनका स्मरण करके उन्हें त्याग करने का सङ्कल्प किया जाता है। इसका सूत्र है,

वोसिरसु इमाइ मुक्खमग्ग-ससग्ग-विग्घभूयाइ ।
दुग्गइ-निबधणाइ अट्ठारस पावठाणाइं ॥

जीवन में पाप का एक भी स्थानक बाकी न रह जाय, इस का यह सूचक है।

बाद में साधु, जगत के दो मुख्य तत्त्वों,-जीव और जड़-में से अपने जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप की जागृति रहे इसलिए यह भव्य भावना पढ़ाई जाती है कि —

एगो हं नत्थि मे कोई नाहमन्नस्स कस्सई ।
एव अदीणमणसो अप्पाणमणुसासइ ॥
एगो मे सासओ अप्पा नाण-दसण-सजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥
सजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्खपरपरा ।
तम्हा सजोगसम्बन्ध सव्व तिविहेण वोसिरिय ॥

इस गाथा का भावार्थ इस प्रकार है —

इस ससार में मैं अकेला हूँ अर्थात् मेरा कोई स्वजन नहीं है

एव मैं भी किसी का स्वजन नहीं हूँ। इस प्रकार साधु दीनता रहित मन से विचार कर के आत्मा को सावधान करता है। क्योंकि आत्मा एकाकी जन्म पाती है और मरता है। कर्म बंधन भी एकाकी ही करता है एवम् उस के फल भी अकेली ही भोगती है। तथा परलोक की विविध गतियों में अकेली ही भ्रमण करता है। ऐसी स्पष्ट हकीकत हो, तब बिल्कुल दीन हुए बिना अपने एकाकीपन का ठीक विचार कर के आत्मभाव में मग्न रहना चाहिए। इसलिए साधु विचार करते हैं कि 'मेरा आत्मा अकेली और शाश्वत है। तथा ज्ञान दर्शन द्वारा युक्त है। शेष सभी पदार्थ आत्मा से बाह्य भाव हैं, आत्मा को कुछ भी हितकारी नहीं। उन बाह्य भावों के संयोग से मेरा आत्मा ने इस विशाल भवसागर में भयंकर दुःखों की परंपरा प्राप्त की है। अतः सर्व प्रकार के संयोग-संबंधों से मेरी आत्मा को मन, वचन और काया से मुक्त करना चाहता हूँ।"

अर्थात् हे आत्मन्! तू शाश्वत है, संसार का कोई भी आक्रमण तेरे असंख्य प्रदेशों में से एक भी प्रदेश का विनाश करने की ताकात नहीं रखता है? तो फिर तुझे क्या चिंता है? तू शुद्ध ज्ञानदर्शन की अनंत-असीम संपत्तिशाली है। तब बाह्य सुख-दुःखादि के आवागमन में किसी प्रकार का हर्ष या विषाद क्यों करना चाहिए? क्योंकि इससे सच्चिदानंदघन स्वरूप तेरी ज्ञान-दर्शन की संपत्ति में कोई वृद्धि या पुष्टि तो होती नहीं है। उल्टा बाह्य पदार्थों और रागद्वेषादि भावों को लेकर ही तू आजतक दुःखी-दुःखी रहा है, दुःखों की परंपरा को पाया है। संयोग तो विनश्वर होने से पलटते ही रहते हैं, परन्तु तुझे दुःख का अखंड प्रवाह सहना पड़ता है। इसलिए ऐसे संयोगमात्र को त्याग

का स्वरूप कर ले, सम्बन्धमात्र से मुक्त हो जा, और आत्मा को असायोगिक शुद्ध आनन्द में मग्न कर दे।

साधु इस प्रकार भावना करने के बाद तीन बार सम्यग्दर्शन का पुनः स्मरण और परमेष्ठि-नमस्कार कर के जगत के जीवों के प्रति क्षमापना करते हैं। और अपने मन, वचन और काया के दुष्कृत्यों के पश्चात्ताप स्वरूप मिथ्या दुष्कृत्य देते हैं।

जैन श्रमण इस प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर के अंत में मंगलविधि और भावना कर के तृण या ऊनी संस्तारक पर और चातुर्मास में पाट पर ऊनी आसन रखकर किसी जीव का नाश न हो पावे, इसलिये आसन और अपने शरीर की प्रमार्जना करने के बाद शयन करते हैं और शान्तिपूर्वक निद्रा लेते हैं। अनुभवी योगीने ठीक ही कहा है कि सभी प्रकार की तृष्णाओं से परे ऐसे साधु-पुरुषों को जो सुख मिलता है, वह सुख लाखों-करोड़ों रुपये की संपत्ति के मालिक तथा छ खंड धरती के स्वामी और अपूर्व रिद्धि-सिद्धिवाले देवों के नसीब नहीं होता है।

: १५ :

पदाधिकार

जो जैन श्रमण विधिपूर्वक अमुक शास्त्राभ्यास करते हैं, उन्हें गणिपद दिया जाता है, अमुक शास्त्राभ्यासवालों को पन्यासपद दिया जाता है, सभी जिनागमों तथा महत्वपूर्ण शास्त्रों में पारंगत होनेवालों को उपाध्याय का पद दिया जाता है और शास्त्र पारंगत के उपरान्त विशिष्ट योग्यता रखनेवाले को आचार्य पद अर्पण किया जाता है। इस

जगद्गुरु पू. आचार्यदेवश्री विजयहीरसूरीश्वरजी के उपदेश और अहिंसादि गुणोंसे
आकृष्ट हो कर प्रतिबोधित हुए मुगल सम्राट बादशाह अकबर महानाथ श्रीशत्रुंजय
आदि पवित्र स्थानों के स्वतन्त्र हक का अधिकारपत्र तथा भारतव्यापी छ मासिक
हिंसानिषेधके अपने शवाओं पर भेजे गए फरमान पत्र अर्पण कर रहे हैं।

प्रकार आचार्यपद पानवाले श्रमण गच्छ अर्थात् अमुक साधु समूह के अग्रणी माने जाते हैं। और ये जिनशासन के प्रति विश्वसनीय रहकर सभी प्रवृत्तियों का संचालन करते हैं। विशेष करके वे अपने हाथ नीचे के श्रमणों की बार बार देखभाल करते हैं और उन्हें दोष न लगे इस लिए उनको अपनी भूलों का याद दिलाते हैं। उनके चारित्र में अतिचार लग रहा हो, या किसी प्रकार के अतिचार–अनाचार का सेवन होता हो, तो उसका वारण करते हैं तथा यदि श्रमण प्रमादी बनते जा रहे हों और ज्ञान–ध्यान की प्रवृत्ति में शिथिल बन गए हों तो उन्हें सन्मार्ग पर लाने की प्रेरणा देते हैं। फिर भी न मानते हों तो उन्हें बार बार कठोर शब्द कहकर भी उन्हें सदाचार–सत्क्रिया में प्रवृत्त करते हैं। संक्षेप में आचार्य की कार्य–कुशलता पर ही श्रमण–संघ की स्थिरता, प्रवृत्ति और प्रगति का सारा आधार है।

: १६ :

लोकोपकार

जैन श्रमणों द्वारा जो लोकोपकार हो गए हैं और हो रहे हैं, उनका वर्णन करने के लिए तो एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा जा सकता है। परंतु यहाँ प्रकरण के अनुरूप उनका संक्षेप में निर्देश करके प्रस्तुत निबंध को समाप्त करेंगे।

जैन श्रमणों ने अनेक राजा–महाराजाओं को धर्म का उपदेश देकर उनके राज्यों में से जूआ, चोरी, मांसभक्षण, मदिरापान, परस्त्री-सेवन, वेश्यागमन और शिकार इत्यादि [illegible] दूर करवाया है

तथा उनके द्वारा लाखों–करोडों मूँगे पशुओं को अभयदान दिलवाये हैं। तदुपरांत कारागार में रहकर नर्क की यातनाओं को भोगनेवाले हजारों बंदीजनों को मुक्त करने के आदेश दिलवाये हैं। प्रजा को कड़े करों से मुक्ति दिलवाई है। इसके अलावा उन्होंने राजा महाराजाओं को स्तूप तथा चैत्य बँधवाने की, तीर्थों की मरम्मत करवाने की तथा विविध रूप से श्रुतज्ञान की प्रभावना करने की प्रेरणा दी है। तात्पर्य कि जनता का नैतिक स्तर उन्नत रहे तथा जनता सर्वदा धर्माभिमुख बनी रहे, इसके लिए उन्होंने भारी परिश्रम किया है।

जहाँ राजा–महाराजाओं ने या सत्ताधिकारियों ने सत्ता के नशे में पागल बन कर प्रजा के प्रति पाशवी वृत्तियों का प्रदर्शन किया है, और अनेक बार कहने पर भी मत–साध्वियों को सताने का जारी रखा वहाँ उन्होंने उग्र बनकर दण्ड भी दिया है। और इस प्रकार उनकी बुद्धि को ठीक करके न्याय, नीति और धर्म को पुन स्थापित किया है।

जैनाचार्यों के सदुपदेश से उनके अनुयायियोंने लाखों–करोड़ों रुपये खर्च करके कलात्मक गगन–चुम्बी भव्य जिनालय बँधवाये हैं। जीर्णावस्था वाले प्राचीन तीर्थों का उद्धार करवाया है। यात्रा के निमित्त अपूर्व संघ निकालने का आयोजन किया है। जिससे हजारों लोगों को धर्मरस, पवित्रता इत्यादि प्राप्त होने के अलावा रोजी भी मिली है। हजारों ताडपत्र और पुस्तकें लिखवा कर ज्ञान–भण्डार स्थापित किए हैं। अन्न का एक दाना न मिले, ऐसे दुष्काल के समय में लोगों के लिए अपने सभी अन्न–भण्डार खुले रख दिए हैं और देश की स्वतंत्रता की लिए धन, माल और यावत् प्राण तक सर्वस्व के बलिदान

यह परिणाम जैनाचार्यों—जैन श्रमणों के उपदेश का ही है कि अतिथि—अभ्यागत के लिए जैन गृहस्थों के द्वार सर्वदा खुले रहते हैं और परोपकार की किसी प्रवृत्ति में अपने नाम प्रथम पंक्ति में दर्ज करवाते हैं। जैन श्रमणों के उपदेश से दयालु बने हुए गृहस्थ वृद्धे, या अशक्त पशुओं के पालन के लिए पिंजडापोल बधवाते हैं। पक्षियों को खाने के लिए आवश्यक अनाज तथा पीने के लिए आवश्यक पानी मिल रहे, इसलिए परबड़ो बधवाते हैं, मच्छीमार के फंदे में से मछलियों को छुडाते हैं, कसाइयों के क्रुर हाथों होने वाली हत्याओं से निर्दोष पशुओं को बचाते हैं तथा किसी भी दीन—दुःखी व्यक्ति को यथाशक्ति सहायता करके आम संतोष का अनुभव करते हैं।

जैन—श्रमणों की उपदेश—धारा चोर, लुटेरे और हत्यारे और युद्ध पिपासुओं तक पहुँच पायी है। और उनका जीवन—परिवर्तन करने में सफल सिद्ध हुई है। हजारों मनुष्य एक साथ हिंसक शस्त्रों को छोडकर कृषि, गोपालन या वाणिज्य जैसे सरल शाहूकारी व्यवसाय का आश्रय लेते हैं, यह सामान्य बात नहीं है। आज अपराधियों के नियन्त्रण में रखने के लिए तथा उन्हें सुधारने के लिए प्रति वर्ष कोर्ट—कचहरियों तथा पुलिसों का दिल को थर्राने वाला जो व्यय करना पडता है, फिर भी इच्छित नियन्त्रण करने में सफलता नहीं मिलती है—उसकी तुलना में बिना खर्च होने वाला यह लोकोपकार कितना प्रशंसनीय है। भारत वर्ष की अपराधी जातियों में जो कुछ भी सुधार हुआ है, उसका श्रेय तो ऐसे संत—महात्माओं के प्रयत्नों को ही मिल सकता है।

जैन श्रमणों ने साहित्यिक क्षेत्र में भी बहुत सुन्दर और प्रशंसनीय कार्य किया है। धर्म, तत्त्वज्ञान, योग, अध्यात्म, भाषा, गणित, ज्योतिष, मंत्र, तंत्र आदि सभी विषयों को अपनी निर्मल प्रज्ञा का प्रसाद दिया है। हमारी यही अभ्यर्थना है कि —

भारतीय समाज तथा भारत का राजकर्ता वर्ग जैन–श्रमणों को सच्चे स्वरूप में पहचान कर उनकी महान शक्तियों का सदुपयोग अपने और देश के विकास के लिए करें।

——☆——

मुद्रक गुणवंत कोठारी, सुभाष प्रिंटरी, डॉ टंकारीया रोड, अहमदाबाद